सिद्धयोग

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

वर्ष १९ जून-जुलाई १९८६ ई. अंक ३-४

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

* निर्मलगुणाश्लेष्यो नरेभ्यो नमः (प्रार्थना) १
* न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः (विशेष लेख) २
  योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
* वीतराग पुरुषों का ध्यान ८
  आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
* अवश्यमेव भोक्तव्यं १७
  ज्योतिषकलानिधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा
* शाण्डिल्योपनिषद् में वर्णित योग १९
  श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री
* अर्जुन विषाद २७
  श्री शिवनारायण लाल अग्रवाल
* ध्यान की विधि ३२
  श्री विष्णुप्रसाद व्यास
* आधुनिक समाज एवं पातञ्जल योगदर्शन ३४
  श्री डॉ० विजयसिंह
* हर मन हँसी, हर मन खुशी ३८
  श्रीकृष्णदत्त भट्ट
* पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम् ४३
* महावतार बाबाजी एवं उनका क्रियायोग ४५
  श्री के० डी० उपाध्याय
* पाल ब्रन्टन सद्गुरु की खोज में ४७
  एक योग-साधक
* पुराकाल में शिक्षा-संस्कृति का स्वरूप ५५
  श्री डा० हरिशंकर शर्मा
* साधक से अकारण विरोध का फल ५७
  श्री केशव उपाध्याय
* वर्तमान की चिन्ता करो ६२
  श्री शिवा भावे
* स्वरयोग प्रणाली से शिवोहम् ६३
  श्री जगदीश नारायण उपाध्याय

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'
जून-जुलाई
१९८६

वार्षिक मूल्य ३० रुपया। इस अङ्क का ४ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिकपत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष १९ अङ्क ३, ४	स्वार्थं त्यक्त्वा यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, यस्मिन् मुक्त्वोद्य विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः । तत्त्वाभ्यर्थान् बहुविशद योगशास्त्रोक्तदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥	जून-जुलाई १९८६

❀ निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ❀

वान्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता ।
विद्यायां व्यसनं स्वयोषितिरति र्लोकापवादाद्भयम् ॥
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले ।
एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥

अर्थात्

सज्जनों से मैत्री की इच्छा, पराये गुणों से प्रीति, गुरु के प्रति नम्रता, विद्या में अनुराग, स्व स्त्री में प्रेम, लोकापवाद से डर, भगवान् शंकर में भक्ति, इन्द्रियों को अपने बसमें रखने की शक्ति, दुष्टों से असंगति आदि गुण जिन मनुष्यों में रहते हों उनको नमस्कार है। अर्थात् ऐसे पुरुष ही वन्दनीय होते हैं।

—योगिराज भर्तृहरि

हमारा विशेष लेख—

ॐ योग-योगेश्वर

अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

कठोपनिषद् में यमराज ने युवक नचिकेता को जो उपदेश दिया था उसी का उपादेय अंश जो योग साधक की प्रेरणा का स्रोत हो सकता है पूज्य गुरुदेवजी ने अपनी व्याख्या के साथ चित्रित किया है। 'सिद्ध-योग' के पाठक निश्चय ही इससे लाभान्वित होंगे।

—सं० सं०

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः

'मनुष्य धन से कभी भी तृप्त नहीं हो सकता है।' यह उक्ति समा गई थी आत्म-तत्त्व के यथार्थ ज्ञान के आकांक्षी बालक नचिकेता के हृदय में। इसीलिए तो उसने मृत्यु के देवता यमराज के दरबार में पहुँचकर भी उनके द्वारा स्वेच्छा से दिये जाने वाले उन सब भोगों को, जो मनुष्य-लोक में प्रायः लोगों को दुर्लभ हो रहते हैं—बड़ी स्पष्टता से ठुकरा दिया था।

यमराज ने आत्म-तत्त्व के खोजी इस बालक के इस अदम्य साहस की कि भूलोक से यमलोक तक इसने बड़ी कठिन यात्रा करके यहाँ मुझ मृत्यु के देवता के सामने आ खड़े होने का अनुपम उदाहरण पेश किया है—बड़ी सराहना की—और उससे कहा कि हे नचिकेता मैं तेरी इस दुर्लभ यात्रा से बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ। इस तेरे अदम्य साहस के उपलक्ष में—तू जो चाहे वह वर मैं तुझे देने को तय्यार हूँ। 'इमा रामाः सरथाः सतूर्या' 'न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः'—

यहाँ जो मनुष्यों को दुर्लभ रहते हैं वे सभी सुख-भोग हाथी, घोड़ा, रथ, वाद्य—रूपवती नारियाँ आदि सभी जो लेना चाहे ले ले—चिरञ्जीवी होने की अभिलाषा रखता हो—तो यह वर भी तुझे सुलभ हो सकेगा—बोल क्या चाहता है? नचिकेता यमराज के इन सभी जागतिक प्रलोभनों को ठुकराता है और कहता है:—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्-
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥

अर्थात् 'हे यमराज ! आप जिन भोगों का वर्णन कर रहे हैं वे श्वोभावा हैं अर्थात् क्षण-भंगुर है, एक क्षण है दूसरे क्षण नहीं है। फिर इन क्षण-भंगुर भोगों से प्राप्त होने वाला सुख सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देने वाला होता है। जीवन की—लम्बी आयु का भी कोई महत्व नहीं होता क्योंकि अन्ततोगत्वा चिरजीवन भी नाशवान् ही होता है। इसलिए हे मृत्यु के अधीक्षक यमराज ! क्या करूँगा मैं आपके इन नाशवान् भोगों को लेकर। धन और धन के भण्डारों का स्वामी बन कर भी मैं क्या करूँगा ? क्योंकि इस असलियत को भी मैं जानता हूँ कि मनुष्य को धन की अपार राशि मिल जाने पर भी—उसकी तृष्णा, उसकी भूख कभी शान्त नहीं होतीबल्कि धन मिल जाने पर यह उत्तरोत्तर और बलवती होती जाती है। ऐसी दशा में मुझे इन भोगों में से किसी की भी आवश्यकता नहीं है। मेरा आपके पास तक आने का उद्देश्य मात्र यही है कि मैं मरणोत्तर जीवन का रहस्य और आत्म तत्व जैसे गम्भीर विषय का सन्तोषजनक समाधान स्वयं आपके श्रीमुख से सुन सकूँ।'

नचिकेता के ऐसे अडिग आग्रह को जानकर और यह जानकर कि यह युवक सत्य का अन्वेषक और उपासक है, उसके आगे अपने ज्ञान स्रोत का उद्घाटन कर देते हैं। वे उसे आत्म-तत्व और परमात्म-तत्व के गूढ़ रहस्यों को प्रकट कर देते हैं और बताते हैं कि नचिकेता तुम्हारा यह कथन ठीक ही है कि संसार के सभी सुखभोग और धन सम्पदा सभी कुछ यहां श्वोभावा यानी क्षण भंगुर है। जो आज है कल वह निश्चय ही रहने वाला नहीं है। यह जानते हुए भी मैंने तुम्हें इनको मांग लेने का आग्रह केवल यह जानने के लिए किया था कि तुम अपनी यमलोक तक की दुरूह यात्रा के बाद भी अपने यात्रा-उद्देश्य के प्रति कितने आस्थावान हो ? मेरी परीक्षा की कसौटी पर तुम खरे उतरे हो। इसीलिए मैं तुम्हें उस आत्म ज्ञान का अधिकारी समझकर जिसे जानकर मरण धर्मा मनुष्य—अमृत हो जाता है तथा जिसकी हृदय में स्थित सभी कामनायें समूल नष्ट हो जाता है एवं जो ब्रह्म तत्व का भली-भांति अनुभव करके—परम-पद को प्राप्त कर लेने का अधिकारी बन जाता है, सहर्ष तुम्हें प्रदान कर रहा हूँ।

यमराज ने नचिकेता को विस्तृत रूप से जीवन के रहस्यों और उसके आधारभूत सिद्धान्तों की वह समस्त विधि भली प्रकार समझा दी जिसके अनुष्ठान से मनुष्य उस परमतत्व को पाकर कृतकृत्य हो जाया करता है जिसके प्राप्त करने के लिए वह इस 'अष्ट चक्रा नव द्वारा देवानां पूर अयोध्या' जैसी विशिष्ट देह—नगरी में आकर ठहरा था। कठोपनिषद में नचिकेता और यमराज के

इस कल्याणकारी सम्वाद का विस्तार से वर्णन किया गया है। आत्म-कल्याण के अभिलाषियों को इसका श्रद्धा पूर्वक अध्ययन और मनन करना चाहिए। उपनिषद्कार ने स्वयं लिखा है—

नाचिकेतं मुपाख्यानं
मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी
ब्रह्मलोके महीयते ॥
कठो० ३/१६

अर्थात् बुद्धिमान-मेधावी मनुष्य यमराज द्वारा वर्णित इस उपाख्यान को कहकर तथा सुनकर इस लोक और ब्रह्मलोक में महिमान्वित यानी प्रतिष्ठित होता है।

ऐसा है यह उपाख्यान। इसे यमराज ने अग्नि विद्या के नाम से भी इंगित किया है। भौतिक यज्ञाग्नि का सविधि अनुष्ठान भी जीवन के लिए श्रेयस्कर रहता है अतः कठोपनिषद् की प्रथम वल्ली में इसकी महत्ता का भी उल्लेख किया गया है। यथाः—

प्र ते ब्रवीमि तद् मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितम् गुहायाम् ॥
कठो० वल्ली १/१४

यमराज ने कहा—हे नचिकेता स्वर्ग दायिनी अग्नि-विद्या को भली प्रकार जानने वाला मैं तुम्हारे लिए ठीक-ठीक बतलाता हूं। तुम इसे खूब समझ लो। यह अविनाशी लोक की प्राप्ति कराने वाली है और ऐसा समझो कि यह अत्यन्त गुप्त है और विद्वानों की बुद्धिरूपी गुफा में छिपी हुई है।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै
या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥
कठो० व० १/१५

उपर्युक्त प्रकार से अग्नि विद्या की महत्ता और गोपनीयता बताकर स्वर्गलोक की कारण रूपा अग्नि विद्या का रहस्य नचिकेता को समझाया तथा यज्ञ—कुण्ड निर्माण आदि की विधि तथा ईंटों का आकार-प्रकार और अग्निचयन का तरीका भी समझाया।

कठोपनिषद् के यह उद्धरण इस तथ्य के प्रतीक हैं कि यमराज ने भौतिक यज्ञाग्नि विद्या का भी ज्ञान नचिकेता को कराया और अग्नि नाम परमात्मा का भी वेदों में आया है इसलिए आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों का ज्ञान भी अग्नि विद्या के अन्तर्गत आता है—अतः यमराज ने यह ज्ञान भी जिसे अध्यात्म ज्ञान और योग विद्या का ज्ञान भी कहा जा सकता है विस्तार पूर्वक नचिकेता को सहर्ष प्रदान किया। कठोपनिषद् की शेष वल्लियां इसी अध्यात्म ज्ञान अथवा योग ज्ञान से भरी हुई हैं जैसा कि उपनिषद्कार ने भी कहा है:—

मृत्यु प्रोक्तां नचिकेतो ऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योग विधिं च कृत्स्नाम्।

ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्वि मृत्यु
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥

अर्थात्—इस प्रकार उपदेश सुनने के अनन्तर नचिकेता यमराज द्वारा बताई हुई इस विद्या को और सम्पूर्ण योग विधि को प्राप्त करके मृत्यु से रहित और सब प्रकार के विकारों से शून्य यानी विशुद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त हो गया, दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्म विद्या अथवा योग विद्या का जानने वाला और अनुष्ठान करने वाला है वह भी मृत्यु से रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

हमारे कथन का आशय यह है कि नचिकेता को यमराज द्वारा बताई गई अग्नि-विद्या—योग विद्या के अतिरिक्त और कोई अन्य विद्या नहीं थी। ब्रह्मलोक की प्राप्ति ब्रह्म का साक्षात्कार योग-विधि के अनुष्ठान से ही सम्भव हो सकता है। नचिकेता को परम वैराग्य की ओर अग्रसर करने के लिए उसे यमराज ने यह सूत्र दिया न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः—मनुष्य की तृप्ति धन अथवा धन से उपार्जित भोग-साधनों से कभी हुआ नहीं करती। भोगों के भोगने से भोगाकांक्षा-अग्नि में घी डालने के समान और अधिक तीव्र हो जाया करती है। इसलिए आत्म कल्याण चाहने वाले साधक को इन्द्रियों के बहिर्मुखी सुख-भोगों की लालसा को मन से निकाल कर दूर फेंक देना होगा और करना यह होगा कि अपने बुद्धि-बल से इन्द्रियों की बहिर्मुखी विषय प्रवृत्ति को अन्तर्मुखता की ओर मोड़ डाले। जब वह ऐसा कर सकेगा तभी उसे अपने अन्दर में निहित उस शक्ति स्रोत का पता चल सकेगा जिसके समान अन्य दूसरा शक्ति-स्रोत हो ही नहीं सकता है। अन्तर्मुखी बनने पर अपार शक्ति स्रोत को मनुष्य पा लिया करता है तब उसे अपने चारों ओर आनन्द का महासागर हिलोरें लेते हुये नजर आने लगता है। और यहीं इस आनन्द सागर की लहरों में अवगाहन करते हुए साधक उस परम-शक्ति का साक्षात्कार कर सकने का अवसर पा लेता है, जिसके फलस्वरूप वह मृत से अ-मृत बन जाया करता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते
कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र
ब्रह्म समश्नुते ॥

लेकिन यह शाश्वत आनन्द की प्रतीति उन्हें कदापि नहीं हो पाती जिनके हृदय से कामनाओं की तरंगें समाप्त नहीं हुई हैं और जो समाहित चित्त शुभ चरित्र वाले नहीं हैं। यथा—

नाविरतो दुश्चरितान्ना
शान्तो ना समाहिता।
नाशान्तमानसो वापि
प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात ॥
कठो० २/२४

अर्थात् सूक्ष्म बुद्धि का सहारा लेकर भी इस परब्रह्म को न तो चरित्रहीन व्यक्ति प्राप्त कर सकता है और न वह जिसके मन इन्द्रिय आदि संयत नहीं हैं और न अशान्त मन वाला इसे पा सकता है। इसे प्राप्त कर सकेगा केवल वह धीर-वीर मनीषी साधक जो अपने बाह्य विषयों की ओर भाग जाने वाले इन्द्रिय रूपी चञ्चल घोड़ों को मन रूपी लगाम को रोकने की कला जानता है।

यमराज ने भी इन्द्रियों की भोगोन्मुखी वृत्तियों का परिचय नचिकेता को देते हुये यही कहा था कि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराऽपश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

'सुनो भाई नचिकेता! स्वयम्भू परमात्मा ने समस्त इन्द्रिय गोलकों को बहिर्मुखी बनाया है इसलिये पुरुष बाहर की वस्तुओं को ही देखता है अन्तरात्मा को नहीं देखता। कोई धीर पुरुष ही शायद आवृत्त चक्षु होकर यानी आँखें बन्द करके अन्तरात्मा को देख पाता है।'

यानी बिरले ही पुरुष होते हैं जो अन्तर्मुखी साधना में रत हो पाते हैं। जो रत हो जाते हैं वे जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर अमर-पद के अधिकारी बन जाते हैं और जो ऐसा न करके भोगों की ओर ही भागते रहते हैं, उन्हीं में रचे-पचे रहते हैं वे निश्चितरूप से मृत्यु के विशाल पाश में जकड़े रहते हैं। यमराज के शब्दों में ऐसे लोग मूढ़ श्रेणी के ही होते हैं।

ऐसे लोग ही 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' जैसे आदर्श वाक्यों पर ध्यान देकर जीवन को सार्थक नहीं करना चाहते। क्षण-भंगुर भोगों को जुटाने और उन्हें भोगने की दौड़ धूप में ही उनके जीवन का अवसान हो जाता है। और पछताते हुये योगिराज भर्तृहरि की इस सूक्ति को ही वे दुहराते हुए वे दुनिया से चले जाते हैं:—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

यह स्थिति न आने पाये, जगत से जाते कोई परेशानी, कोई पछतावा मनुष्य को न करना पड़े, इसका एक मात्र उपाय—योगाभ्यास ही हो सकता है, यम नियम की साधना के साथ ध्यान की एकाग्रता ही बाह्य विषयों से चित्त की वृत्तियों को हटाकर उन्हें अन्तर्मुखी बनाये रखने की क्षमता रखती है। इसीसे उन्हें समाधि का वह अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होगा—जिसके सामने जगत के सारे सुख-भोग नीरस, निस्वाद और निस्सार प्रतीत होने लगेंगे। जरूरत है केवल साधक के दृढ़ निश्चय की। अगर वह यमराज

द्वारा नचिकेता को दिये गये—

'उत्तिष्ठित जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्'

के उपदेश सूत्र को अपनी साधना का सूत्र बनाले। यानी अगर वह सावधान और जागरूक रहकर अपने सद्गुरु के आश्रय और निर्देशन में ध्यानाभ्यास की निरन्तरता की वृद्धि करता रहेगा तो निःसन्देह वह परम-पुरुषार्थ का भागी बनकर अपने जीवन को सफल और सार्थक कर लेगा। यदि नहीं तो इस दुर्गम जगत पथ में जिसे—विद्वान और तपःपूत ऋषियों ने छुरे की धार के समान अति तेज धार वाला बताया है, भटकता रहेगा।

यमराज का यह उद्बोधन जो नचिकेता को कभी दिया गया था आज भी मोक्षाभिलाषी साधकों को उतना ही वरणीय और संग्रहणीय है जितना कि वह पुरा काल में था। कौन ऐसा है, हुआ है अथवा कभी आगे होगा जो बिना श्रेष्ठ पुरुषों के निबोध के—बिना सद्गुरुओं के मार्ग दर्शन के इस भव-सागर से पार जा सके। सद्गुरुओं और श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग-दर्शन को प्राप्त करने की शर्त ही यह है कि जिज्ञासु साधक में श्रद्धा, जागरूकता और सावधानता हो। बिना इन सद् गुणों के ज्ञान-का मार्ग प्रकाशित नहीं होता। इसीलिए यमराज ने उस बालक से स्पष्टता से कहा था कि अगर तू ऐसी सावधानी और जागरूकता नहीं बरतेगा तो तुझे उचित गुरुओं का निबोध प्राप्त नहीं होगा फिर उसके अभाव में तू ज्ञान के उज्ज्वल मार्ग से हटकर अज्ञान और अविद्या के मार्ग में ही भटकता—भटकता रहेगा। तेरी दशा "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" जैसी हो जायेगी। अन्धों की टोली को अगर कोई अन्धा व्यक्ति ही मार्ग-दर्शन देने लगे तो निश्चय ही वे सबही पतन की दुःखपूर्ण अवस्था को ही प्राप्त हो जायेंगे। अविद्या रूपी पतन के गर्त में जो एक बार जा गिरते हैं उनका ऊपर आना फिर कठिन ही रहता है। योग का विद्यार्थी तो इस वास्तविकता से भली प्रकार परिचित रहता है कि अविद्या ही सारे क्लेशों की जननी होती है। संसार के अन्य सभी क्लेश इस अविद्या से ही अपना विस्तार और पोषण पाते हैं। यह अविद्या सत्य ज्ञान के प्रकाश से नितान्त दूर हुआ करती है। और वह सत्य ज्ञान प्राप्त हुआ करता है सद्गुरुओं से, श्रेष्ठ पुरुषों से। यही बात नचिकेता से यमराज ने अपने उद्बोधन के रूप में इस प्रकार कही थी:—

उत्तिष्ठत जाग्रत

प्राप्य वरान्निबोधत ।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया

दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

× × ×

आत्म पुरुष और परम पुरुष के ज्ञान के लिए इस प्राथमिक उद्बोधन के बाद यमराज ने उसे अनेकशः प्रमाण और उदाहरणों

आत्मा को जानो

यह मनुष्य जन्म-जन्मान्तरों के पवित्र कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है। इसके रहस्य को जानना किसी सौभाग्यशाली को भाग्य में होता है। आजकल के संसारी मनुष्य तो बहुधा मार्ग भूलकर उल्टे भोगवाद के मार्ग पर चल पड़े हैं। यह भोग तो पशुओं को अनायास ही मिल जाते हैं। मनुष्य जन्म का लक्ष्य तो भोग नहीं किन्तु अपने आपको जानने का रहा है, क्योंकि अपने को जानकर ही परमात्मा को जाना जाता है, जो शाश्वत आनन्द और शान्ति का दाता रहा है। इसी को जानकर जीवन मरण के चक्र से छूटकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त किया करता है। यही जीवन का लक्ष्य होता है किन्तु कितने चिन्ता करते हैं इस लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में बढ़ने की। वेद का ऋषि-द्रष्टा-ऋषि जिसने समाधि द्वारा सत्य को साक्षात् किया है जीवन के इस लक्ष्य बिन्दु की साधिकार घोषणा करते हुये कहता है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्य वर्णः तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्यु मेति नान्य पंथा विद्यते अयनाय॥

इसका भावार्थ है मनुष्यों जानो आत्मा और परमात्मा को यदि मृत्यु के चंगुल से छूटना चाहते हो। अमर पद प्राप्त करना चाहते हो तो आओ प्रभुचिन्तन के मार्ग पर। योग साधना का अभ्यास ही इस मार्ग पर ले जाने का सार्थक सोपान है। तुम्हारे उद्धार का कोई अन्य सोपान अथवा रास्ता हो ही नहीं सकता है। यहीं पहुँचकर तुम को शाश्वत सुख आनन्द और अमरता की प्राप्ति हो सकेगी। यही सारभूत उपदेश है जिसे भली प्रकार सभी शास्त्रों ने बहु विधि समझाने का प्रयास किया है।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

के द्वारा बताया कि वह परम पुरुष जो अव्यय, अक्षर और अमृत है, जो हृदय गुहा में अवस्थित है और जिसे जानकर मनुष्य इस शरीर से ही ब्रह्मभाव साधक को प्राप्त हो जाता है। तब अनुभूति में आता है जब उसके हृदय में आश्रित सभी कामनायें छूट जाती हैं। ऐसा होने पर ही वह मरणधर्मा अमृत हो जाया करता है। बिना भोग की कामनाओं के निर्मूल किये जगत की इस भूल को पकड़ पाना असम्भव ही रहता है।

वीतराग पुरुषों का ध्यान

आचार्य चन्द्रहास शर्मा

यह ब्रह्माण्ड चिति शक्ति से ओत-प्रोत है। यही चिति शक्ति जिसे शास्त्रों ने त्रिपुर सुन्दरी, महामाया, दुर्गा, शिवा, कुण्डलिनी आदि आदि नामों से गुण तथा कार्य-भेद के आधार पर संकेतित किया है वही पिण्ड में चित्त रूप से स्थित रहती है। चित्त ही चिति शक्ति का आश्रय है। चित्त के स्टोर हाउस से यह आत्मशक्ति प्राण एवं मन के प्रवाह के रूप में नाड़ी मण्डल से पूरे शरीर में व्याप्त हो जाती है। नाड़ियां चित्त की प्रसार भूमि मानी जाती हैं। इसलिए योग साधक को आसन, बन्ध, मुद्राओं तथा प्राणायाम से सर्व प्रथम नाड़ियों को मल रहित बनाकर शुद्ध कर लेना चाहिए, इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के वातपित्त कफ से लेकर काम क्रोध, लोभ, मोह, असूया, ईर्ष्या एवं अयथार्थ ज्ञान (अविद्या) आदि दोषों से शरीर की धारक बाह्य तथा आन्तरिक नाड़ियां जैसे इडा, पिंगला, सुषुम्ना, चित्रा, वज्रा, ब्रह्मनाड़ी, कुहू, मेधा आदि विभिन्न प्रकार की नाड़ियां मलिन हो जाती हैं, जिसके परिणाम स्वरूप चिति शक्ति का प्रसार मन बुद्धि चित्त तथा प्राण एवं इन्द्रियों में उपयुक्त ढंग से नहीं हो पाता। अतः शरीर में नाना प्रकार के रोग, मन में उद्वेग तथा विकार और बुद्धि में भ्रम तथा संशय जन्म ले लेते हैं। इसी से चित्त चंचल रहा करता है। रजोगुणी तथा तमोगुणी चित्त को योग का अधिकारी नहीं माना है। सतोगुणी चित्त होने पर एकाग्रता आती है। एकाग्र चित्त को समाधि का दाता माना गया है। ×

एकाग्र चित्त शक्ति का खजाना बनता है। श्री रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि मन सरसों की पोटली में बंधे सरसों के दानों की तरह होता है। यदि सरसों बिखर गई तो प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकेगा। उसे युक्ति पूर्वक इकट्ठा कर पोटली में बांधे रखने से उससे तेल प्राप्त किया जा सकता है। मन और चित्त पारे की तरह चंचल है। यदि पारे को युक्ति पूर्वक शुद्ध कर बांध लिया जाय तो उस से अद्भुत सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं तथा उसके योग से बनी औषध रस बनती है जो असाध्य आधिव्याधियों को दूर करने में रामबाण सिद्ध होती है।

हमारे गुरुदेव कहा करते हैं कि एकाग्रता योग की आधारशिला है। योग साधक की सब से बड़ी कठिनाई यह है कि वह चित्त को एकाग्र

× क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः। तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते।—व्यास भाष्य १/१०

करने में बहुत कम सफल हो पाता है। मंत्र जप करने बैठता है तो उस समय न जाने कहाँ—कहाँ के विचार उसके मन में आते जाते हैं जिससे मंत्र केवल जीभ की एक यान्त्रिक क्रिया बनकर रह जाता है। वह मन के साथ जुड़ नहीं पाता और न मन्त्र की शक्ति, उसके देवता तथा उसके अर्थ की प्रतीति उसके अनुभव का विषय बन पाता है। बेचारा अर्जुन तो जगदात्मा श्रीकृष्ण के आगे मन की चंचलता को देखकर घबराकर कह उठा—

चंचलं हि मनः कृष्ण,
प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये
वायोरिव सुदुष्करम्॥

आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को कहते सुना कि हे श्रीकृष्ण यह मन चंचल ही नहीं इन्द्रियों को मथ देने वाला भी है। यदि इन्द्रियां उसकी बात न मानें तो यह मन जबरदस्ती बलात्कार करके इन्द्रियों से अपनी मनचाही कराके ही रहता है। जैसे वायु को वश में करना—अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार यह मन भी दुर्जेय है। श्रीकृष्ण समझ गये कि वह रजोगुणी स्वभाव के अधीन है। अतः रजोगुण से सतोगुण की ओर मन अभिमुख करने के लिये भगवान ने अर्जुन को निष्काम, फल की आशा छोड़कर केवल कर्म के लिए ही कर्म करने का उपदेश दिया। कर्म में कई बातें होती हैं। व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य का ठीक-ठीक अहसास कर्मरत रहने से ही होता है। प्रत्येक कर्म में सफलता नहीं मिल पाती। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का अहंकार और भ्रम खुद ब खुद चूर चूर हो जाता है। उसका विश्वास फलदाता ईश्वर में दृढ़ होता चला जाता है। कर्महीन होने पर वह भाग्यवादी, आलसी तथा ढोंगी हो जाता है। कर्मरत व्यक्ति अन्तर्यामी के प्रति समर्पित हो जाता है। इन सारी बातों का ध्यान रखकर भगवान ने अर्जुन से कहा—"कायर बन कर मत बैठ। धनुष बाण ले उठ खड़ा हो और युद्ध कर।" भगवान की कर्म प्रवृत्ति विषयक शिक्षा से अर्जुन का मन हलका नहीं हुआ। मन से मल नहीं धुला करता। साबुन से गन्दगी धुलती है पर साबुन नहीं धुल पाता। साबुन धोने के लिए पानी चाहिए। कर्म से कम से कर्म बन्धन शिथिल अवश्य होता है पर मन से कर्तापने का अहंकार तथा कर्मफल भोगने की वासना सहज मिट नहीं पाती। अहंकार का अधिष्ठान देहजन्य सुख की इच्छा है। देहाभिमानियों की अन्तर्मुखीवृत्ति नहीं हो पाती। उनके लिए भक्ति कल्याणप्रद है। यज्ञ दानादि साधनों से चित्तशुद्धि होकर सतोगुण की वृद्धि होने लगती है। ऐसे प्राणियों की प्रवृत्ति कर्मप्रधान ही बनी रहने के कारण चित्त वृत्ति एकाग्र नहीं हो पाती। ध्यान योग के अभ्यास के बिना चित्त के पूर्वार्जित संस्कार किसी भी उपाय से उच्छिन्न नहीं होते। अति-

पुराण में ध्यानयोग के सम्बन्ध में एक श्रुति है कि पापकर्मों की शुद्धि ध्यान योग से ही सम्भव है ।

× × × ×

ध्यानेन सदृशं नास्ति
शोधनं पाप कर्मणाम् ।
—२१

कर्म बन्धन शिथिल करने तथा मन की एकाग्रता के लिए ध्यान आवश्यक है । अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ध्यान किसका किया जाय और कैसे किया जाय ?

इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करने के लिये ध्यान का प्रयोजन और स्वरूप जानना होगा । हमारे अन्दर हर क्षण पूर्व पूर्व संस्कारों के प्रवाह के कारण गुण और वृत्तियों का सुख-दुखात्मक अनुभूतिप्रधान प्रवाह चलता रहता है । उस प्रवाह के फलस्वरूप हमारा चित्त हमारे प्राण और हमारा मन घड़ी के पेण्डुलम की तरह कभी इधर कभी उधर हिलता रहता है । प्राण और मन के संयोग से हमारी बुद्धि भी स्थिर नहीं रहती । बुद्धि की अस्थिरता से हम बिना सोचे समझे ऐसे निर्णय ले लेते हैं, ऐसे कर्म कर जाते हैं जिनके लिए बाद में पछताना पड़ता है । इस सब को रोकने के लिए चित्त के विषय का आलम्बन अपने संस्कार चक्र के स्थान की अपेक्षा किसी अन्य विषय को बनाया जा सकता है । इससे दो लाभ होते हैं—एक तो जो संस्कार भोग के लिए उपस्थित हो रहे थे वे ठहर जाते हैं तथा दूसरे ध्यान में बने प्रबल संस्कार प्रारब्ध संस्कारों को या तो आत्मसात कर लेते हैं या उन्हें सूक्ष्म बनाकर सूक्ष्म भोग द्वारा निर्मूल बना साधक का जीवन निरापद कर देते हैं । उदाहरण के लिये साधक का कोई भयंकर रोग का संस्कार भुगतान के लिये आने वाला है, ध्यान योग द्वारा साधक उस संस्कार को विचार स्तर पर या स्वप्नवत् भोग कर छुट्टी पा जायेगा । संस्कार की तीव्रता और उसकी मात्रा तथा भोगकाल सूक्ष्म धरा-तल द्वारा भोगे जाने के कारण सूक्ष्म हो जायेंगे । ध्यान योग से निवृत्ति प्रधान प्रारब्ध तैयार होता है, जिससे साधक का जन्म और मरण दोनों सुधर जाते हैं । या तो वह इसी जन्म में पूर्णता लाभ कर लेता है अन्यथा उस को अच्छे प्रकार का मनुष्य जन्म अवश्य मिलता रहता है जिसमें साधक अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये शुभकर्म कर सके ।

किसी वृत्ति का तैलधारा के समान अवि-च्छिन्न समान प्रवाह ध्यान कहलाता है ।

'तत्रैकतानता ध्यानम्'

किसी लक्ष्य स्थान में वृत्ति द्वारा धारणा स्थापित कर मन को स्थिर बना देना ध्यान है । इस प्रकार अन्त में ध्यान मन को विषय रहित बना देता है । इस विषय में भृंगी कीट न्याय का सिद्धान्त कार्य करता है । हम जिसका ध्यान करते हैं, वैसे ही बन जाते हैं । ध्यान के

मूल में जो स्वरूप या भाव होगा वह अपने सजातीय भावों को जाग्रत कर देगा। जन्म-जन्मान्तर के वैसे भाव इकट्ठे होकर अपना बहुमत बना लेंगे और अन्य विरोधी भावों को दबा देंगे। ध्यान के हजारों आलम्बन हो सकते हैं। किन्तु वीतराग महापुरुषों को अपने चित्त का विषय बनाने से जीवन में उपरामता, इन्द्रिय संयम तथा वैराग्य का भाव शीघ्र पुष्ट होता है। वीतराग पुरुषों के चिन्मय विग्रह से वैराग्य के तेजाणु हरक्षण निकलते रहते हैं। वे परमाणु साधक के हृदय में प्रवेश करके वैराग्यभाव पुष्ट करते हैं।

'वीतराग विषयं वा चित्तम्'—१/३

—पातञ्जलयोग दर्शन

उक्त सूत्र द्वारा चित्त वृत्तियों के निरोध के लिये वीतराग पुरुषों के ध्यान का निर्देश किया गया है। वीतराग महापुरुषों के रोम रोम से वैराग्य और शान्ति की धारायें निकलती हैं। उनकी वाणी दृष्टि तथा श्वास प्रश्वास सभी से वैराग्य के झरने फूटते हैं। जो उनकी वाणी सुनता है, उनकी सेवा करता है या मन से उनका चिन्तन करता है, वह उन्हीं के रंग में रंग जाता है। जादू वही जो सिर पर चढ़कर बोले। वीतराग महात्मा के मन में जिसके लिये जो संकल्प आ जाय वह हो जाता है।

उनको अपने चित्त में रहने के कारण पूरा किया करते हैं श्रद्धापरायण हृदय के लिये समाधि निष्ठा का यह सुगम मार्ग है। जो सद्गुरुदेव को प्रभु से अधिक महत्व पूर्ण मान-कर—

हरि से गुरु सौवार,
मोहि ते अधिक गुरहि जिय जानी।
सकल भाव सेवइ सनमानी।

इन सन्तों के वचनों में विश्वास कर ध्यान के द्वारा अपने हृदय सिंहासन या आज्ञा चक्र के ऊपर पुष्पदल में वीतराग गुरुदेव, इष्टदेव या सिद्ध पुरुष की अर्चना, पूजा या वन्दना करता है अथवा अपने समस्त शुभाशुभ कर्म उनके श्री चरणों में समर्पित करके निष्काम भाव के द्वारा समाधिस्थ होने का अभ्यास करता है, वह शीघ्र मुक्तिलाभ कर सकता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत में आत्म-शान्ति के लाभ का सुगम मार्ग यही बताया है। अपने प्रिय सखा उद्धव से वे कहते हैं:—

'यमानभीक्ष्णं सेवेत
नियमान मत्परः क्वचित्।
मदभिज्ञं गुरुं शान्त-
मुपासीत मदात्मकम्॥

—११/१०/५

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आदि यमों का तो आदर पूर्वक पालन करना चाहिए, परन्तु शौच सन्तोष तप स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान रूप नियमों का पालन शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार उतना ही करना चाहिए जितना आत्मज्ञान तथा आत्मानुभूति में सहायक हो भगवत्परायण

साधक के लिए नियमों की कठोर अनिवार्यता नहीं है। यम-नियमों से भी बढ़कर साधक को भगवत्परायण, शान्त, आत्मराम; अपने श्री सद्गुरुदेव को साक्षात्परब्रह्म समझकर उनकी उपासना करनी चाहिए। श्रद्धा की चुम्बकीय शक्ति इष्ट को खींचने की सामर्थ्य रखती है। श्रीमद्भगवद्गीता के द्वादश अध्याय में अर्जुन भगवान से पूछते हैं कि साकार और निराकार उपासना करने वालों में कौन योग का वेत्ता है? योगेश्वर श्रीकृष्ण स्पष्ट शब्दों में अर्जुन को समझाते हैं—कि जो योगी अपना मन मुझ सर्वव्यापक तथा सर्व-अधिष्ठान परमेश्वर में अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ लगा देता है तथा ध्यान योग के द्वारा मुझमें अपने चित्त का लय कर देता है, वह सर्वश्रेष्ठ योगी है। ऐसा योगी मुझे सबसे अधिक प्रिय है।

यह प्रकृति का नियम है कि छोटी शक्ति बड़ी शक्ति की ओर खिंच जाती है और उसमें एकाकार हो जाती है। इसी नियम के अनुसार साधक का चित्त गुणों के अधिकार वाला होने से सतोगुण की ओर आकर्षित हो जाता है। चित्त को सतोगुण का जितना अधिक आलम्बन प्राप्त होता है उतना ही वह सतोगुण सम्पन्न बनता चलता है। सतोगुण का उत्कर्ष हो जाने पर बुद्धि भी सत्वोत्कर्ष युक्त होकर समाधि प्रज्ञा हो जाती है जो बन्धन और उसके कारणभूत कर्म विपाक शृंखला तथा उसको नष्ट करने के उपायों को जानती है। ऐसी बुद्धि योगी को दीपक की तरह प्रकाश देती है। जब सत्वगुण की मात्रा चित्त में अधिक बढ़ जाती है तो रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं और धर्म तथा ईश्वर की भक्ति योग ध्यान की प्राप्ति होती है। सतोगुण सम्पन्न पुरुष ही धार्मिक व्यक्ति है धार्मिक व्यक्ति का आचरण शुद्ध सतोगुणी हो जाता है। उसका आहार-विहार रजोगुणी तथा तमोगुणी कदापि हो नहीं सकता। यदि उसके कर्म रजोगुणी तथा तमोगुणी हैं तो वह कितना ही जप, ध्यान, कीर्तन करे या यज्ञ, दान, तप करे वह धार्मिक नहीं है और न धर्म के तत्व को जानता है। नारायण स्वरूप योगेश्वर श्रीकृष्ण अपने परम सखा उद्धव को धर्म के तत्व का उपदेश देते हुये यही कहते हैं कि निरन्तर सात्विक वस्तुओं का सेवन करते रहने से सत्वगुण की वृद्धि होती है तब साधक अपने आत्म-स्वरूप के साक्षात्कार के उपायों में प्रवृत्त होता है। जिस धर्म के पालन से सतोगुण की वृद्धि हो वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। ऐसा धर्म रजोगुण एवं तमोगुण तथा उनसे होने वाले अधर्म तथा दुःखों को शीघ्र नष्ट कर देता है। अतः जब तक आत्म-साक्षात्कार तथा स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों शरीर तथा उनके कारणभूत गुणों की निवृत्ति न हो तब तक सत्वगुण की वृद्धि के लिए सात्विक आहार, सात्विक शास्त्र तथा सन्तजनों का

सेवन करना चाहिए। इससे धर्म की वृद्धि होती है तथा धर्म—वृद्धि से अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मतत्त्व प्रकाशित होता है—

सात्त्विकान्येव सेवेत
पुमान् सत्त्ववृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं
यावत् स्मृतिरपोहनम्॥
—श्रीमद्भागवत ११/१३/६

जब तक बुद्धि शुद्ध नहीं होती तब तक व्यक्ति दुर्बुद्धि के कारण सिनेमा, नाटक, चोर बाजारी, जुआ, शराब, व्यभिचार, हिंसा तथा काम के वशीभूत होकर रजोगुण और तमोगुण प्रधान कर्मों में फंस जाता है और उन कर्मों का परिणाम दुःख उसे भोगना पड़ता है। जब तक सतोगुण का विकास नहीं होता तब तक विषयों में दोष दृष्टि नहीं हो पाती। बिना दोष दृष्टि हुए—वैराग्य तथा भक्ति की प्राप्ति नहीं होती। बिना वैराग्य तथा भक्ति के योग अथवा ज्ञान अन्धा है। जब योग में भक्ति और वैराग्य के पंख लगते हैं तभी योग कैवल्य का जनक बनता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दस वस्तुओं को गुणों की वृद्धि का कारण माना है—

आगमोऽपः प्रजा देशः
कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो
दशैते गुणहेतवः॥
—वहीं/४

यदि सतोगुणी शास्त्र होगा तो सतोगुण की वृद्धि होगी और यदि रजोगुणी होगा तो उसके अध्ययन से रजोगुण ही बढ़ेगा। जैसे श्री रामचरित मानस में श्रीराम की प्रेममूर्ति श्री भरत का चरित्र, श्री हनुमत चरित्र तथा बाल चरित्र का अनुशीलन करने वाले साधक में सतोगुण की वृद्धि होगी। इसी प्रकार झरने का तथा गङ्गा का जल पीने वाले में सतोगुण की वृद्धि होगी। नर्मदा, गोमती, यमुनादि नदियों का जल पीने वालों में रजोगुण की वृद्धि होगी। कुँओं के जल से सतोगुण की वृद्धि होती है किन्तु फिल्टरों में क्लोरीन से साफ किये गये नल के पानी से रजोगुण और तमोगुण बढ़ता है। जैसा पानी वैसी वाणी। पानी में मधुरता तथा तृप्ति का गुण होना चाहिए, वही जल पीने से सतोगुण बढ़ेगा। जैसे लोगों के बीच में रहेंगे वैसे ही गुण बढ़ेंगे। उसी प्रकार देवालय, सिद्धपीठ, गुरुधाम तथा तीर्थस्थल, धर्मशील देश में सत्त्वगुण की वृद्धि होगी। ब्रह्ममुहूर्त के समय सतोगुण की वृद्धि होती है अतः सुबह ३ बजे से ६ बजे तक ध्यान करने पर शीघ्र प्रगति होती है। परोपकार, सन्त सेवा, गुरु सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा निष्काम कर्म से चित्त शुद्धि होती है क्योंकि इन कर्मों से सतोगुण की वृद्धि होती है। योगी, ज्ञानी, ब्राह्मणकुल में जन्म होने से सतोगुण बढ़ता है तथा प्रातःकाल जन्म लेने वाले व्यक्तियों में सतोगुण की वृद्धि होती है। श्री गुरुदेव, वीतरागी पूर्णकाम

आत्माराम सिद्धों तथा चतुर्भुज रूप नारायण अथवा त्रिभंगीलाल रासेश्वर श्रीकृष्ण का ध्यान करने से सतोगुण की वृद्धि होती है। इसी प्रकार ऋणमन्त्र, इष्टमन्त्र तथा गुरुप्रदत्त-मन्त्र जो शान्ति तथा पुष्टिकर्म के लिए हो, सतोगुण की वृद्धि करते हैं। जो मन्त्र तन्त्रमन्त्र हैं तथा मारणमोहन उच्चारण की क्रिया वाले रुद्र भैरव, दुर्गा या हनुमान के मन्त्र रजोगुण की वृद्धि करते हैं। इनके अतिरिक्त दसवीं वस्तु संस्कार है। प्रारब्ध संस्कारवश व्यक्ति की इन्द्रियां, मन एवं प्राण तथा बुद्धियां कार्य करती हैं। यदि सात्विक संस्कारों का प्रवाह है तो जीवन में सतोगुण की वृद्धि होगी। दूसरे रूप में भी संस्कारों का महत्व है। हिन्दूधर्म में सोलह संस्कारों का बड़ा महत्व है। गर्भाधान के समय माता-पिता का जैसा मन होगा उसी के संस्कार बच्चे के चित्त का निर्माण करेंगे। शराबी मां-बाप के बच्चे विकृत मस्तिष्क तो प्रायः होते ही हैं साथ ही वे रजोगुणी होते हैं। उनका मन ध्यान समाधि, एकाग्रता, धर्म आदि की ओर अग्रसर नहीं होता। जन्म के समय बालक जिसका प्रथम दर्शन करता है, वैसे ही उसके संस्कार बनते हैं। जैसे ऋतु स्नान के बाद जैसा चित्र या व्यक्ति का दर्शन मां करती है वैसी ही आकृति रङ्ग तथा गुण बालक के होते हैं। उसी प्रकार जन्म के समय बालक जिसका प्रथम दर्शन करता है उसके संस्कार बालक के चित्त पर पड़ते हैं। इसीलिए हमारे यहां सर्वप्रथम बालकों को किसी सन्त, योगी, ब्राह्मण तथा महापुरुष का दर्शन कराया जाता था। आजकल अस्पताल में बच्चा मल-मूत्र के पुतलों का ही प्रथम दर्शन करता है अतः वैसे ही उसमें संस्कार तथा गुण आते हैं। इसी प्रकार नामकरण यज्ञोपवीत आदि-आदि संस्कारों के द्वारा सतोगुण का विकास होता है। किन्तु आजकल नई सभ्यता में जातकर्म संस्कार को भी नहीं करते, अन्य संस्कारों का नाम तक नहीं जानते। इन दस वस्तुओं में ध्यान का बड़ा महत्व है। हमारा ध्यान आलम्बन जिस गुण का होगा वैसे गुणों का विकास हमारे अन्दर होगा अतः श्रीराम, कृष्ण, शिव, हनुमान, भरत, श्री गुरुदेव आदि किसी भी रूप में चित्त को लय करने का अभ्यास करना चाहिए। कालान्तर में सतोगुण की वृद्धि होने पर रजोगुण तथा तमोगुण अभिभूत हो जायेंगे और सतोगुण के प्रकाश पथ में रहने वाले सभी सिद्धों तथा वीतराग महापुरुषों के दर्शन होने लगेंगे।

वीतराग महापुरुषों का चित्त अनासक्त निर्मल तथा सतोगुण का शुद्ध स्वरूप होता है। उसमें हम अपने चित्त को एकाग्र करें तो हमारे मन में शीघ्र एकाग्रता आती है। जिस तरह गुरुप्रदत्त मन्त्र चिन्मय होता है, उसमें देवता, ऋषि, गुरुदेव तथा उपकार सिद्ध हुए सिद्धों की शक्ति होती है। वह शक्ति साधक

के मन को अपनी ओर खींच लेती है। जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लिया करती है; वैसे ही हमारा मन वीतराग-पुरुषों के रूप नाम गुण, लीला या धाम को अपनी धारणा का विषय बनाता है तभी उनके चित्तमें हमारा मन लीन होकर चिन्मय बन पाता है। हमारे चित्त में विक्षेप और चञ्चलता के संस्कारों का अभिभव होने लगता है और एकाग्रता के संस्कारों का प्रादुर्भाव होने लगता है। हमारे चित्त की ईर्ष्या, असूया, रागद्वेष वासना तथा आसक्ति उसी प्रकार हट जाती है जिस प्रकार सूर्योदय होने पर रात्रि के लक्षण अदृश्य हो जाते हैं। महापुरुषों की कृपा प्राप्त करने का सुगम उपाय है उनका ध्यान। सन्तजन कहते हैं कि जब तक साधक पर शास्त्र कृपा, सन्त कृपा, गुरु-कृपा, आत्म कृपा और ईश्वर की कृपा नहीं होती तब तक मन एकाग्र नहीं हो पाता। जीवन्मुक्त वीतराग महापुरुषों का ध्यान करने से उनके सात्विक परमाणु हमारे चित्त में सादृश परमाणुओं का सृजन कर हमारे चित्त की वासना को हटा देते हैं तथा चित्त को निष्पाप, निष्कलंक तथा निर्मल बना देते हैं।

शास्त्रीय सिद्धान्त है—'अनुरागात् विरागः।' जितना-जितना अपने इष्ट स्वरूप, नाम, लीला, गुणकथन तथा उनके ध्यान में आकर्षण बढ़ता है उतना उतना मन बाह्य आकर्षणों से उपराम हो जाता है। चित्त प्रेम से द्रवित होता है वैसे ही प्राणों में प्रेमघन श्रीकृष्ण की वंशी बजने लगती है। यह वंशी फिर गजब ही कर देती है। उसकी मधुर ध्वनि को सुनकर विषयाकार वृत्तियों रूपी गायें विषयों की घास का चरना छोड़कर प्राण प्यारे के पास दौड़ती भागती चली जाती हैं। सत्कर्म की वृत्तियां अपने कर्म संस्कार के गेह रूपी गृह को छोड़कर प्राण प्यारे की वंशी पर निछावर हो जाती हैं। यह प्राणों का अनुराग ही वंशी है। जब चित्त और प्राण अपने प्रिय को समर्पित हो जाते हैं—'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः' की स्थिति आ जाती है तो देह और गेह की आसक्ति के बन्धन शिथिल हो जाते हैं। जिस प्रकार जब फल रसीला बन जाता है, पक जाता है तो उसका डण्ठल अपने आप उससे हट जाता है। वैसे ही जीवन में आनन्दरस के छलकते ही आसक्ति शिथिल हो जाती है। यही है वीतराग चित्त का ध्यान और उसका फल।

❁ ❁

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहि।
मनुआ तो दहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहि॥

—सन्त कबीर

अवश्यमेव भोक्तव्यं

❀ ज्योतिषकलानिधि शिवनाथ मेहरोत्रा

ॐ

देवीभागवत में कहा है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं
कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म
कल्पकोटिशतैरपि ॥

जिन कर्मों को हमने किया है, वे शुभ हों अथवा अशुभ, उनका परिणाम हमें भोगना ही पड़ता है। जब तक उसका क्षय नहीं होगा। चाहे करोड़ों कल्प बीत जाएँ, बिना भोगा हुआ कर्मफल समाप्त नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं जो कुछ हो रहा है, सिर्फ खुदा की मर्जी से हो रहा है। खुदा या परमेश्वर ऐसा अन्यायी नहीं है कि एक को तो वह हर प्रकार की सुख सम्पत्ति का दान करता जाए और दूसरे को दोजख की आग में झुलसने के लिए सिर्फ अपनी इच्छा होने से ढकेल दे। वह परमपिता है। उसमें करुणा और अथाह प्रेम है। वह सिर्फ हमारा भला ही कर सकता है। जैसे स्वर्ण में से मलांश को दूर करने के लिए उसे अग्नि में तपाया जाता है वैसे ही परमेश्वर अपनी लीला से हमारे पाप-कर्म रूपी मल का प्रभाव समाप्त कर देने के लिए ही हमें तापों से विदग्ध कराता है, ताकि शुद्ध स्थिति में हम पहुँच सकें। अतएव हमें मिलने वाला सुख और दुःख हमारे किए हुए पूर्व कर्मों का ही परिणाम है।

यह भी सच है कि सुख और दुःख के ये मौके सिर्फ हमें शुद्ध एवं स्वरूपस्थिति में पहुँचाने के निमित्त हैं। वस्तुतः शुभ या अशुभ फल का भोग प्राप्त होने में परमकारुणिक महाशक्ति का अनुग्रह ही काम कर रहा है। सुखों को तो हर कोई भगवान का अनुग्रह मानता ही है, दुःख भी उनके अनुग्रह के अन्यतम स्वरूप ही हैं ताकि उनके ताप से हमारा मलांश कुकर्म एवं विक्षेप नष्ट हो जाएँ एवं हम शुद्ध चेतन में समावेश का बोध ग्रहण कर सकें।

श्री श्यामाचरन जी लाहिड़ी महाशय काशी के प्रसिद्ध योगिराज थे। श्री गुरुदेवजी महाराज उन्हें अपना गुरुभाई बताते हैं और अपने साधनाकाल में उनका दर्शन प्राप्त होने की बात उन्होंने कुछ गुरुभाइयों से बताई है। काशी में श्री तैलंग स्वामी, श्री स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज, श्री स्वामी भास्करानन्द जी महाराज एवं श्री श्यामाचरन जी लाहिड़ी महाशय—ये सभी महान योग विभूतियाँ एक ही समय में विराजमान थीं। लोकहित के निमित्त से इन सभी ने अनेकानेक रहस्यों को समय-समय पर प्रकट किया है। श्री श्यामाचरन जी लाहिड़ी महाशय एक दिन गङ्गाजी से स्नान कर घाट की सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे। उसी समय उन्होंने अपने शिष्य को, जो साथ ही चल रहा था, सम्बोधित करके कहा—"कृष्णराम कपड़ा फाड़ो।" कृष्णराम बेचारा अकचका गया—इसका क्या मतलब? तब तक ऊपर से एक ईंट सरकता हुआ आया और उनके पाँव पर गिरी जिससे एक अँगुली कट गई और रक्तस्राव होने लगा। कृष्णराम बड़े दुःखी हुए। पूछा गुरुजी, जब

मालूम था कि ईंट गिरने वाली है तो बोधा हुए वह क्यों नहीं गये ? ईंट को ही गिरने से क्यों नहीं रोक दिया ? श्री लाहिड़ी महाशय ने उत्तर दिया—'यह मेरे कर्म का फल था। इसे भोगना आवश्यक था। न भोगता तो भी भविष्य में भोगना ही पड़ता।' उस समय तक मुलझन के साथ सूब कुछ और भी बढ़ जाता। भगवती परमेश्वरी महाप्रकृति महाजननी परमकरुणामयी है। वह जानती है कि किस कर्म का फल कैसे भोगने को किसे देना चाहिए। उसकी करुणा पर विश्वास धीरे-धीरे ही हो पाता है। साधना की चरम अवस्था में उसकी इच्छा और अपनी इच्छा एक हो जाती है। योगिराज लाहिड़ी जी महाराज की इच्छा भी यही हो गई थी कि इस कर्म का फल भोगना ही है। अतः उन्होंने उसे भोगा। अन्यों के लिए एक दृष्टान्त भी इस लीला के प्रकरण से प्रस्तुत कर गये।

ऐसे ही हमारे गुरुदेव श्री महाराज श्री गोपालानन्द जी महाराज के जीवन की कथा भी सुनाते हैं। श्री गोपालानन्द जी महाराज जो उनके वरिष्ठ सखा तुल्य गुरुभाई रहे हैं। उनका हाथ अकस्मात् कुएँ से जल खींचते समय कट गया। लोगों ने कहा—इतना ध्यान करते हैं, श्री प्रभुजी के इतने कृपापात्र हैं, फिर भी ऐसा आघात इन्हें क्यों लगा ? श्री महाप्रभुजी के सामने बात गई। उन्होंने कहा—ध्यान द्वारा इस सम्बन्ध की वार्ता को प्रत्यक्ष करके देखो। 'ध्यान' लगाकर देखने पर स्वयं श्री गोपालानन्द जी महाराज ने अपने पूर्व जन्म की एक घटना देखी। पूर्व जन्म में वे मथुरा में ब्राह्मण थे। उनकी पत्नी परम रूपवती थी। पत्नी को वे हमेशा ताले में बन्द रखते थे ताकि उसके स्वरूप को दूसरा कोई देखने का मौका न पाए। एक बार वे कहीं कथा बांचने गये। वापस आकर देखा तो जो ताला लगा गये थे, पत्नी ने खुला रख दिया था। बस, गुस्से के आवेश में आ गए। और अपनी पत्नी का अङ्गभङ्ग कर दिया। उसी के प्रभाव से वह मर भी गई।

इस घटना की सच्चाई जानने के लिए अनेक शिष्यों को महाप्रभुजी ने उस स्थल पर भेजा। पता चला कि हां, प्रायः ८० वर्ष पूर्व यहां एक ऐसे दम्पत्ति जरूर रहते थे और इस प्रकार की घटना घटित हुई थी।

श्री गोपालानन्द जी महाराज चूंकि योग साधना में लीन थे एवं उनके पाप ध्वस्त प्रायः थे अतः उस भीषण कृत्य का उन्हें थोड़ा सा ही कष्ट भोगना पड़ा। उतना कष्ट भोगना उनके लिये अनिवार्य था। हम अपने जिस बच्चे को दूसरों की अपेक्षा अधिक प्यार करते हैं उसे भारी दण्ड के बदले कुछ हलका दण्ड देकर मुक्त कर देते हैं। वही स्थिति जगज्जननी के महाराज्य की भी है। योगाभ्यासी के लिए बड़े भारी क्लेशों का भुगतान कुछ थोड़े में ही हो जायेगा। इसका प्रमाण गीता देती है—

शाण्डिल्योपनिषद् में वर्णित योग

❁ श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

शाण्डिल्योपनिषद एक उत्तम योग-परक ग्रन्थ है। इसमें अष्टाङ्ग योग के अन्तर्गत समाधि प्राप्ति के साधनों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। परम जिज्ञासु महर्षि शाण्डिल्य को योगोपदेश देते हुये योगाचार्य अथर्वा जी का कथन है:—

द्वौ क्रमौ चित्त नाशस्य
योगो ज्ञानंमुनीश्वर।
योगो वृत्तिनिरोधो हि
ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
तस्मिन्निरोधिते नून-
मुपशान्तं मनो भवेत्।
मनः स्पन्दोपशान्त्यां
च संसारः प्रविलीयते॥

हे मुनीश्वर! चित्त के नाश करने के दो उपाय हैं—योग और ज्ञान। योग का अर्थ है—चित्त वृत्तियों को रोकना और ज्ञान का अर्थ है—वस्तु के तत्व को यथार्थ रूप से देखना। चित्त-वृत्तियों के निरोध से मन निश्चित ही शान्त हो जाता है। मन की

(पिछले पृष्ठ का शेष)

येषां त्वन्तगतं पापं
जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोह निर्मुक्ताः
भजन्ते मां दृढव्रताः॥

पुण्य कर्मों द्वारा जो अपने पापों को समाप्त कर डालते हैं वे द्वन्द्व मोह से पूरी तरह मुक्त होकर सिर्फ दृढ़व्रत द्वारा भगवद्-भजन में प्रवृत्त हो जाते हैं। अर्थात् उनके पाप नष्ट हो जाते हैं। पुण्य कर्म सत्वगुण के आश्रय से होते हैं। सत्वगुण में प्रविष्ट व्यक्ति जब कामना त्याग देता है तब वही पुण्य अक्षय हो जाता है। कामना के त्याग की वह स्थिति आने में बहुत देर लगती है। सामान्यतया कोई सतोगुणी व्यक्ति भी कामनाओं से मुक्त नहीं होता। धीरे धीरे कर्म बन्धन कटते जाते हैं। प्रकृत योगाभ्यास की कामना सबसे अन्तिम कामना है। योगी बनने के बाद कामनाओं की पूर्ति होना एवं निष्कामत्व की उपलब्धि पाना साथ-साथ है। और यह ऐसा मार्ग है जिसमें बहुत से जन्मों तक किया गया प्रयास भी धीरे-धीरे जुड़ता चला जाता है। सम्पूर्ण कर्मफल की समाप्ति ही 'समाधि' की अन्तिम स्थिति है। समाधि से नीचे उतरा योगी भी दृढ़व्रत से भजन करता रहता है। अन्त में अपनी इच्छा से वह चाहे परमपद में प्रतिष्ठित हो जाता है।

चञ्चलता के शान्त होते ही यह सांसारिक प्रपञ्च भी छूट जाता है और सांसारिक प्रपञ्च छूटते ही मनुष्य मुक्तिपथ का अनुगामी बन जाता है।

महर्षि पतञ्जलिदेव जी महाराज ने भी अपने योग-दर्शन में "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" सूत्र के अनुसार चित्तवृत्तिनिरोध को ही योग बताया है। अगले सूत्र में अर्थात् समाधिपाद के तीसरे सूत्र में चित्तवृत्ति निरोध का उपाय बताया गया है।

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

अर्थात्—अभ्यास और वैराग्य से चित्त-वृत्तियों को जड़ सहित हटाया जा सकता है।

मन और प्राणों को वश में करने के लिये किया जाने वाला प्रयत्न अभ्यास कहलाता है और सांसारिक भोग पदार्थों के प्रति मन में आकर्षण पैदा न होना, मन का उस ओर से बिल्कुल छूट जाना वैराग्य कहलाता है।

अभ्यास से वैराग्य पुष्ट होता है और वैराग्य से अभ्यास में दृढ़ता आती है। इसी प्रकार मन और प्राण का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। "यत्र मनो लीयते तत्र प्राणो लीयते" के सिद्धान्तानुसार एक का निग्रह कर लेने से दोनों ही वश में हो जाते हैं।

शाण्डिल्योपनिषद् में मन सहित अन्तःकरण की शुद्धि के लिये यमों और नियमों का सविस्तार वर्णन करने के उपरान्त नाड़ी शुद्धि के लिये स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, सिद्ध, वीर, भद्र, मुक्त, सिंह, मयूर आदि प्रमुख आसनों, त्रिविध बन्ध, मुद्राओं तथा प्राणायाम का प्रतिपादन किया गया है। प्राणायाम प्रकरण के अन्तर्गत ही मन और प्राण के निरोध के लिये निम्नलिखित साधन बताये गये हैं:—

सूर्यालोकपरिस्पन्दे
शान्ती व्यवहृतिर्यथा।
शास्त्रसज्जनसम्पर्क-
वैराग्याभ्यास योगतः॥
अनास्थायां कृतास्थायां
पूर्वं संसार वृत्तिषु।
यथाऽभिमतध्याना-
च्चिरमेकतयोभितात्।
एकतत्त्वदृढाभ्यासात्प्राण
स्पन्दो निरुध्यते।

जैसे सूर्य का प्रकाश शान्त हो जाने पर जगत का व्यवहार शान्त हो जाता है उसी प्रकार शास्त्रों का मनन करने से और महा-पुरुषों का सङ्ग करने से वैराग्य के भाव जागृत होते हैं और अभ्यास में प्रवृत्ति होती है। साधक को चाहिये कि—वह पहले तो संसार के प्रति अनासक्त हो जाये, सांसारिक कार्यों में आस्था रखना बिल्कुल छोड़ दे। फिर दीर्घकाल तक एकान्त का सेवन करे। इस प्रकार निरन्तर ध्यानाभ्यास करते हुये एक-तत्त्व का दृढ़ अभ्यास हो जाने से प्राणों की गति बन्द हो जाती है। अर्थात् प्राण वश में हो जाते हैं।

पूरकाद्यनिलायामा-
द्दृढाभ्यासादखेदजात् ।
एकान्तध्यानयोगाच्च
मनः स्पन्दो निरुध्यते ॥

बिना परिश्रम के ही सधने योग्य पूरक आदि साधारण प्राणायामों के दृढ़ अभ्यास से तथा एकान्त में ध्यानयोग का अभ्यास करने से मन की गति रुक जाती है। अर्थात् मन पूरी तरह वश में हो जाता है।

ओङ्कारोच्चारणस्यान्त
शब्दतत्त्वानुभावनात् ।
सुषुप्ते संविदो ज्ञाते
प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

ओंकार के उच्चारण के अन्त में शब्द तत्त्व का अनुभव होने से ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप समझ लिया जाता है, जिससे प्राण-गति रुक जाती है। अर्थात् प्राणवायु पर विजय हो जाती है।

तालुमूलगतां यत्नाज्जि-
ह्वयाऽऽक्रम्य घण्टिकाम् ।
ऊर्ध्वरन्ध्रगते प्राणे
प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

तालु के मूल में रहने वाली घण्टि को सावधानी पूर्वक जीभ द्वारा दबाने से प्राण-वायु ऊपर के छिद्र में प्रवेश कर जाता है। तब प्राणगति रुक जाती है।

भ्रूमध्ये तारकालोक
शान्तावन्तमुपागते ।
चेतनैकतने बद्धे प्राण-
स्पन्दो निरुध्यते ॥

भ्रूमध्य में अर्थात् दोनों भौंहों के बीच में ध्यानाभ्यास द्वारा तारक ब्रह्म के दर्शन करने से शान्ति मिलने पर जगत व्यापार बन्द होने लगते हैं और मानसिक संकल्प समाप्त हो जाते हैं। तब प्राणगति रुक जाती है।

प्राणायाम की विधि एवं उसका फल

उपनिषद् में यह आदेश दिया गया है कि—आसन दृढ़ हो जाने पर योग साधक को जितेन्द्रिय बनकर तथा हितकारी मिताहार का सेवन करते हुये सुषुम्ना नाड़ी में रहने वाले मल को सुखाने के लिये निम्नलिखित विधि से प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

प्राणं प्रागिडया पिबेन्नियमितं
भूयोऽन्यथा रेचयेत् ।
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो-
बद्ध्वा त्यजेद्वामया ॥
'सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना-
ऽभ्यासं सदा तन्वताम् ।
शुद्धाः नाड़िगणाः भवन्ति
यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥

साधक को चाहिये कि—वह पहले इड़ा-नाड़ी से वायु खींचकर अन्दर ले जाये और

यथाशक्ति कुम्भक करे (उसे अन्दर रोके रखे) फिर पिंगला नाड़ी द्वारा रेचक करे। अर्थात् सांस को धीरे-धीरे बाहर छोड़ दे। इसके बाद पिंगला से पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे और फिर इड़ा नाड़ी से रेचक करे। इस प्रकार सूर्य-चन्द्र (इड़ा-पिंगला) नाड़ियों द्वारा प्राणायाम का नित्य अभ्यास करने से योगी की समस्त नाड़ियां तीन महीने में शुद्ध हो जाती है।

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्ध-
रात्रौ तु कुम्भकान् ।
शनैरशीति पर्यन्तं
चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥

योगी को प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्याकाल और अर्द्धरात्रि इस प्रकार चार बार धीमे-धीमे अस्सी मात्रा तक के कुम्भक का अभ्यास करना चाहिये।

अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं
क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते
न तान्नियमग्रहः ॥

अभ्यास के आरम्भ में घी और दूध का भोजन उत्तम बतलाया गया है। फिर अभ्यास स्थिर हो जाने पर किसी नियम की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

प्राणायाम का अभ्यास अत्यन्त सावधानी पूर्वक करना चाहिये। अन्यथा यह क्रिया साधक के लिये घातक भी सिद्ध हो सकती है।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो
भवेद् वश्यः शनैः शनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा
हन्ति साधकम् ॥
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं
युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तेन बध्नीया-
देवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥

जिस प्रकार सिंह, हाथी, बाघ आदि को धीरे-धीरे वश में किया जाता है वैसे ही शनैः शनैः प्राणायाम का अभ्यास करने से प्राणवायु वश में हो जाती है। अन्यथा जल्दबाजी करने से वही वायु साधक को मार डालती है।

इसलिये उचित मात्रा में ही रेचक करना चाहिये, उचित मात्रा में ही पूरक करना चाहिये और उचित मात्रा में ही कुम्भक करना चाहिये। इस प्रकार करने से ही सिद्धि प्राप्त होती है।

यथेष्ट धारणं वायोरन-
लस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं
जायते नाडिशोधनात् ॥

शक्ति के अनुसार वायु का कुम्भक करने से अग्नि प्रदीप्त होती है तथा नाड़ियां शुद्ध हो जाती है। जिससे नाद श्रवण होता है

और आरोग्यता प्राप्त होता है।

उपनिषद् में प्राणायाम की कुछ सरल विधियां भी बतलाई गई हैं। इनका हठयोग से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। अतः इनका अभ्यास हर व्यक्ति कर सकता है ये सभी प्राणायाम सर्वसाधारण के लिये अत्यन्त लाभदायक हैं। जैसे:—

रसनाद्वायुमाकृष्य यः
पिबेत्सततं नरः।
श्रमदाहौ तु नस्येताम्
नश्यन्ति व्याधयस्तथा॥

जो पुरुष जीभ से वायु खींचकर निरन्तर पिया करता है, उसे श्रम दाह नहीं होता तथा उसके सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

सन्ध्ययोर्ब्राह्मणकाले
वायुमाकृष्य यः पिबेत्।
त्रिमासात्तस्य कल्याणी
जायते वाक् सरस्वती॥
एवं षण्मासाभ्यासात्
सर्वरोग विनिवृत्तिः।

जो ब्राह्मण दोनों सन्ध्या समय (प्रातः सायं) वायु को खींचकर उसे पीता है उसकी वाणी तीन महीने में कल्याण स्वरूप सरस्वती बन जाती है। अर्थात् उसकी वाणी में सरस्वती का वास हो जाता है, इस प्रकार छः महीने तक अभ्यास करने से सर्वरोग मिट जाते हैं।

बाह्यात् प्राणसमाकृष्य
पूरयित्वोदरे स्थितम्।
नाभिमध्ये तु नासाग्रे
पादांगुष्ठे च यत्नतः॥
धारयेन्मनसा प्राणः
सन्ध्या कालेषु वा सदा।
सर्वरोग विनिर्मुक्तो
भवेद्योगी गतश्रमः।

नासाग्रे वायु विजय भवति। नाभि-मध्ये सर्वरोग विनाशः। पादांगुष्ठ-धारणाच्छरीर लघुता भवति।

बाहर से प्राणवायु खींचकर उसे पेट में भरे, वहां से नाभिमध्य में ले जाकर धारण करे, वहां से नासिका अग्रभाग में और फिर पैर के अंगूठे में यत्नपूर्वक धारण करे। नित्य-प्रति सन्ध्याकाल में (प्रातः सायं) ऐसा करने वाला योगी सब रोगों से मुक्त होकर परिश्रम रहित हो जाता है। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करने से वायु को जीता जा सकता है, नाभि के मध्य में रोकने से सर्व-रोगों का नाश होता है, पैर के अंगूठे में वायु धारण करने से शरीर हल्का होता है।

मासमेकं त्रिसन्ध्यं तु
जिह्वयाऽऽरोप्य मारुतम्।
विभेद त्रिदशाहारं
धारयेत्तुन्द मध्यमे॥

ज्वराः सर्वे विनश्यन्ति
विषाणि विविधानि च ।

जो साधक एक महीने तक तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न और सायं) जिह्वा से वायु को खींचकर पेट के मध्यभाग में रोकता है वह देवताओं के आहार को भेदता है। अर्थात् देवताओं के ऐश्वर्य का भी अतिक्रमण कर जाता है। उसके सब प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते हैं और अनेक प्रकार के विष भी नष्ट हो जाते हैं।

मुहूर्तमपियो नित्यं
नासाग्रे मनसा सह ।
सर्वं तरति पाप्मानं
जन्म शत-शतार्जितम् ॥

जो व्यक्ति नित्य प्रति एक घड़ी भी मन के साथ प्राणवायु को नासिका के अग्रभाग पर धारण किया करता है, उसके सैकड़ों जन्मों से संचित सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

हृदयादि कण्ठ पर्यन्त सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासिकाभ्यां रेचयेत् । तेन श्लेष्महर जठराग्नि वर्धनं भवति ।

हृदय से लेकर कण्ठपर्यन्त सें की आवाज के साथ दोनों नथुनों से धीरे-धीरे वायु खींचकर यथाशक्ति कुम्भक करके इड़ा नाड़ी से पूरक करे (वायु को शनैः शनैः बाहर निकाल दे)। इस प्रकार चलते, फिरते, खड़े रहते करते रहना चाहिये। इस क्रिया से कफ नाश होता है और जठराग्नि बढ़ती है।

दन्तेण सीत्कार पूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासिकाभ्यां रेचयेत् तेन क्षुत्तृष्णाऽऽलस्य निद्रा न जायन्ते ।

दाँत से सी सी करते हुये वायु को अन्दर खींचे और यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथुनों से रेचक करे। इससे भूख-प्यास, आलस्य और निद्रा उत्पन्न नहीं होते।

इस प्रकार अष्टाङ्गयोग में प्राणायाम का विशेष महत्व है। शाण्डिल्योपनिषद् में इसी प्राणायाम प्रकरण के अन्तर्गत शरीर स्थित सुषुम्ना आदि चौदह प्रमुख नाड़ियों तथा दस प्रकार के वायु उनके कार्य और स्थान का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

प्रत्याहार—

योग का पाँचवां अङ्ग प्रत्याहार है। प्रत्याहार पांच प्रकार का बताया गया है:—

(१) विषयों में फिरती हुई इन्द्रियों को बल पूर्वक वहां से हटा लेना प्रत्याहार कहलाता है।

(२) आँखों से जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब आत्मा है ऐसा समझना प्रत्याहार कहलाता है।

(३) नित्य किये गये कर्मों के फल को त्याग देना प्रत्याहार कहा जाता है।

(४) सब प्रकार के विषयों से विमुख हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

(४) पैर के अँगूठे से लेकर मस्तक पर्यन्त अठारह मर्मस्थानों में चढ़ाव उतराव क्रम से प्रत्याहरण करना प्रत्याहार कहलाता है।

धारणा—

धारणा तीन प्रकार की होती है—आत्मा में मन की धारणा, हृदयाकाश में बाहर के आकाश की धारणा और पञ्चमहाभूतों में पञ्च देवमूर्तियों की धारणा।

ध्यान—

ध्यान दो प्रकार का होता है—सगुण और निर्गुण अर्थात् साकार और निराकार। किसी मूर्ति आदि का ध्यान सगुण ध्यान कहलाता है और आत्मस्वरूप का ध्यान करना निर्गुण ध्यान कहलाता है।

समाधि—

जीवात्मा और परमात्मा की एकता अनुभव करने से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह त्रिपुटि रहित परमात्मा स्वरूप और शुद्ध चैतन्यमय जो अवस्था प्राप्त होती है वही समाधि कहलाती है।

विविध संयम एवं उनका फल—

शाण्डिल्योपनिषद् में जहां हठयोग के अन्तर्गत प्राणों के निरोध के लिए अनेक उपाय बताये गये हैं वहीं राजयोग के अन्तर्गत विविध संयमों का वर्णन किया गया है। "त्रयमेकत्र संयमः" योग दर्शन के इस सूत्र के अनुसार किसी एक विषय में धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का एक साथ होना संयम कहलाता है। वस्तुतः धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों ही एक संयम रूप क्रिया के भाग हैं। क्योंकि—"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" इस परिभाषा के अनुसार किसी ध्येय विषय में चित्त को ठहराना धारणा कहलाता है। जब देर तक चित्त उसमें ठहरा रहेगा तब वही क्रिया ध्यान कहलायेगी और जब वही ध्यान इतनी सूक्ष्मता और तल्लीनता के साथ होने लगे कि—ध्यान करने वाले को अपनी भी सुध-बुध न रहे; अर्थात् साधक को इस बात का बोध न रहे कि—मैं ध्यान कर रहा हूँ, यह ध्यान की अवस्था है किन्तु केवल ध्येय विषय का ही भान होता रहे तब यह ध्यान की परिपक्वावस्था समाधि कहलाती है।

इस प्रकार धारणा, ध्यान और समाधि के दृढ़तर अभ्यास से संयम सिद्ध होता है। संयम सिद्ध योगी के लिये ब्रह्माण्ड में कुछ भी अज्ञात एवं अलभ्य नहीं रहता। वह सकल योगैश्वर्य का धनी बन जाता है। योगी को कहाँ कहाँ संयम करना चाहिये और उन संयमों का क्या क्या फल है? इस बात का शाण्डिल्योपनिषद् में सविस्तार वर्णन किया गया है। जैसे:—

नेत्र की पुतली में संयम करने से सब विषयों का ज्ञान हो जाता है, नासिका के अग्रभाग में चित्त का संयम करने से इन्द्रलोक

का ज्ञान होता है। नेत्र में चित्त का संयम करने से सूर्यलोक का ज्ञान होता है। श्रोत्र में चित्त का संयम करने से यमलोक का ज्ञान होता है। पीठ के मध्यभाग में संयम करने से वरुण लोक का ज्ञान होता है। बायीं आंख में संयम करने से शिवलोक का ज्ञान होता है। मस्तक में संयम करने से ब्रह्मलोक का ज्ञान होता है। पैर के नीचे के भाग में संयम करने से अतल लोक का ज्ञान होता है। पैर में संयम करने से वितल लोक का ज्ञान होता है। पैर के रखने पर संयम करने से सुतल-लोक का ज्ञान होता है। जांघ में संयम करने से महातल लोक का ज्ञान होता है। जानु में संयम करने से रसातल लोक का ज्ञान होता है। कमर में संयम करने से तलातल लोक का ज्ञान होता है। नाभि में चित्त का संयम करने से भूलोक का ज्ञान होता है। पेट में संयम करने से भुवर्लोक का ज्ञान होता है। हृदय में चित्त का संयम करने से स्वर्लोक का ज्ञान होता है। हृदय के ऊपर के भाग में संयम करने से जनलोक का ज्ञान होता है। भौंहों के बीच में संयम करने से तपोलोक का ज्ञान होता है। मस्तक में चित्त का संयम करने से सत्यलोक का ज्ञान होता है। धर्म अधर्म में संयम करने से भूत भविष्य का ज्ञान होता है। विभिन्न प्राणियों की आवाज में संयम करने से उनकी बोली का ज्ञान होता है। संचित कर्म में चित्त का संयम करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। दूसरे के चित्त में संयम करने से उसके चित्त का ज्ञान होता है। शरीर के रूप में संयम करने से दूसरे का सा रूप हो जाता है। बल में चित्त का संयम करने से शरीर में हनुमान आदि का सा बल आ जाता है। सूर्य में संयम करने से सारे भुवन का ज्ञान हो जाता है। चन्द्र में चित्त का संयम करने से तारामण्डल का ज्ञान होता है। ध्रुव तारे में संयम करने से उसकी गति का दर्शन होता है। स्वार्थ में चित्त के संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है। नाभिचक्र में चित्त का संयम करने से शरीर व्यूह का ज्ञान होता है। कण्ठ कूप में संयम करने से भूख प्यास जाती रहती है। कूर्म नाड़ी में चित्त का संयम करने से स्थिरता आती है। भ्रूमध्य में चित्त का संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों में संयम करने से भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। —क्रमशः

—तुम्हें दूसरों के दोषों को नहीं देखना चाहिए। अपने मन, वाणी और शरीर का नियन्त्रण करो और कभी भी विचलित मत होओ। प्रतिदिन अपने शरीर और मन को पवित्र करके भक्तिपूर्वक अपने गुरु की सेवा करो। किसी भी दिन सत्कर्म करने में आलस्य मत करो। —भगवान राम

अर्जुन विषाद

❀ श्री शिवनारायण लाल अग्रवाल

गीता की भूमिका धर्मक्षेत्र अर्थात स्ववृत्ति मतानुसार जो कुछ भी हमारे करने योग्य होता है वह चाहे घोर कर्म हो कठोर हो भयानक हो वही स्वधर्म बनता, कहलाता अथवा करना होता है तभी अर्जुन के यह कहने पर कि, "तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव (३/१) जब आप बुद्धियोग और ज्ञानयोग को श्रेष्ठ मानते हो तब इस हिंसा प्रधान कुरु युद्ध जैसे घोर कर्म में भाग लेना, योगदान करना क्यों आवश्यक मानते हो? इसी भूमिका को यह धर्मक्षेत्र शब्द निभाता हुआ उसका उत्तर कुरुक्षेत्र अर्थात् कर्मक्षेत्र में कर्मयोगी की महत्त्वपूर्ण भूमिका में देता है यही गीता का धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र है वह नहीं जहाँ आज के भटकाव की विचारधारा वाले लोग पण्डितों के चक्कर में पड़कर पिण्डदान स्नानादि करके स्वर्ग और मुक्ति की स्वर्णिम वाटिका, आकाश कुसुम के विचार से लगाते हैं। गीता का उससे समीप तो क्या, दूर का भी सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध तो कर्म से है और इसी सिद्धान्त के बल पर युद्ध जैसे हिंसक घोर कर्म को धर्म सम्मत और नैतिक घोषित करती है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रश्न पर जैसा उसने कहा था, जो गुरु दीखें ही मेरे क्यों विष दीखे ताहि, उत्तर देते हैं, दो शब्दों का उत्तर गीता का रहस्य खोल देता है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा
पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां
कर्मयोगेन योगिनाम्॥
३/३

जनसाधारण में प्राचीन काल से ही हे अर्जुन! दो निष्ठायें पाई जाती हैं। ज्ञानियों में ज्ञान के प्रति निष्ठा से लक्ष्य को प्राप्त करना तथा कर्मयोगियों अर्थात् कर्मठों के कर्म में निष्ठावान होकर लक्ष्य प्राप्त करना। इसलिये कि तू ज्ञानयोगी नहीं है अतः जिस गुरु को तू मीत करता है तेरे लिये वह विष बन जायेगा और जिसे तू विष कहता है वही तेरा कल्याण मार्ग है तेरा परमार्थ है क्योंकि तू कर्मयोगी है स्वधर्म पालन ही तेरा नैतिक कर्त्तव्य और धर्म है।

अर्जुन का विषाद

अर्जुन वीर है, कर्मयोगी है किन्तु न तो वह ज्ञान का जिज्ञासु है और न ज्ञानी, शास्त्रवेत्ता या ज्ञानमार्गी है वह धीरधारावा किन्तु श्रेष्ठ धनुर्धर है उसने अपने गाण्डीव को और शत्रु आक्रामकों को मात्र शास्त्र के स्थान पर जाना और समझा है।

श्रीकृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के मध्य लाकर खड़ाकर दिया उसकी इस इच्छा पूर्ति के लिए वह यह देख ले कि उसे किसके साथ युद्ध "यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् १/२२" करना है उनका निरीक्षण कर ले

जिनके साथ मुझे युद्ध करना होगा।

किन्तु जिस उत्साह से अर्जुन ने "देवदत्तः धनञ्जयः, १/१५ देवदत्त नाम का शंखनाद किया था, यहाँ तो स्थिति ही उल्टी है - शत्रु-नाम की जो युद्ध का आवश्यक अङ्ग है, उपस्थित ही नहीं है - यहाँ तो युद्ध द्वारा किसी विजय या पराजय का अवसर नहीं है। एक पारिवारिक समस्या का ही समाधान करना है जो आपसी कलह का रूप ले चुका है उसका मुख्य केन्द्र है राज्यसुख भूमि धन शासन, और व्यक्तियों का बटवारा करना और इस बटवारे को न्यायतः सम्हालने वाले भी वे हैं, जो पितामह, गुरुजन आदि हैं जो धर्म की तुला पर जो पारिवारिक समाधान करने को सक्षम हैं उसने देखा,—

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः
पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्
पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव,
सेनयोरुभयोरपि—१/२६

यहाँ वहीं सब है जो व्यक्ति के लिए परिवार और समाज, धर्म, संस्कृति और कुलधर्म के रूप में आते हैं जिनसे परिवार बनता है, कुलधर्म बनता है, समाज बनकर राष्ट्र बनता है, संस्कृति बनती है और नदी के प्रवाह की भांति समय को प्रवाहित करती जाती है स्वाभिमान बन जाती है यही सब, वे ही लोग, जो भावी मान मर्यादा, कुलधर्म और संस्कृति को आगे ले जाने की जिम्मेदारी अपने कन्धों पर लिए हुए हैं। अपनी इन जिम्मेदारियों को भूल कर सामान्य किन्तु सामूहिक स्वार्थ की रक्षा के लिए अन्यायाचरण की बलिवेदी पर बलिदान हो जाने को उद्यत हैं। युद्ध होगा तो वे सभी, जिनके कन्धों पर भावी समाज रचना संस्कृति और राज्य प्रशासन — परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् धर्मसंस्थापन जिसके अंग हैं वह क्षत्रिय कुल इन सभी जिम्मेदारियों से अपने को पृथक करके सामान्य स्वार्थ की अनावश्यक, निरर्थक रक्षा करने को, अपना बलिदान करने पर उतारू है। इस दुराग्रह का परिणाम स्पष्ट है क्योंकि—

कथं न ज्ञेयमस्माभिः
पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं
प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥
१/३९

क्या हम इस कुल नाश के सम्भावित दोष को नहीं देखें—और हे जनार्दन! इसलिए इस पाप कर्म से बचने का प्रयास क्यों न करें, अवश्य ही इस कुलनाश का परिणाम होगा—'कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः १/४०' कुल के वे धर्म जो सनातन से एक सांस्कृतिक विरासत से एक के पश्चात् दूसरे के द्वारा, अक्षुण्ण अस्तित्व बनाते, रखते चले आते हुए

है—कुल धर्म का तात्पर्य यहां किसी सम्प्रदाय-गत धर्म से न होकर क्षत्रिय धर्म से है यहां युद्ध में क्षत्रिय कुल ही उपस्थित है और वह समस्त अखिल विश्व का प्रतिनिधित्व कर रहा है इस क्षत्रिय कुल का सनातन धर्म है—'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' और धर्म का संस्थापन अर्थात् सुव्यवस्थित शासन जिससे उक्त—'परित्राणाय साधूनां-विनाशाय च दुष्कृताम्' के परिणाम प्राप्त होते हैं इनका अभाव हो जायेगा—और इस स्थिति का परिणाम होगा—अधर्म, कुशासन और दुष्कर्मियों का उत्तरोत्तर अभ्युदय जिससे सभी क्षत्रिय कुल अधर्म से घिर जायेगा-और अधर्म के बढ़ जाने से स्वेच्छाचार से "कोहू न काहू की कानि करे" कुल स्त्रियां भ्रष्ट होकर वर्णसंकर अनार्य प्रजनन करेंगी और इस प्रकार समस्त क्षत्रियत्व वर्णसंकर हो जायेगा, और यह सब मेरे द्वारा होगा, मेरी राज्य सुख की कामना के अत्यधिक लोभ और आकर्षण के कारण होगा मैं ही इसका मूल कर्ता हूं। यद्यपि यह राज्य लोभ मेरी अनधिकार चेष्टा नहीं है बल प्रयोग के लिये भी मैं उत्तरदायी नहीं हूं क्योंकि विपक्षी कौरव पक्ष ने हमें बल प्रयोग के लिये विवश किया है। वे अवश्य ही आततायी हैं वे लोग लोभ के कारण चेतना शून्य होकर इस पाप को नहीं देख रहे हैं—"यद्यप्येते न पश्यन्ति, लोभोपहत चेतसः-कुलक्षय कृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्। १/३७ यह सत्य है कि वे पापी हैं, आततायी हैं 'पापमेवाश्रयेदस्मान् १/३६।' पाप के आश्रय हैं—'हत्वैतानाततायिनः' इन्हें मार डालने पर 'तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं १/३६' किन्तु धृतराष्ट्र के ये पुत्र हैं, हमारे भाई हैं, तो तुम्हीं हे कृष्ण ! 'स्वजनं हि कथं हत्वा; सुखिनः स्याम माधव १/३७' बताओ-अपने भाइयों को मार कर क्या सुखी हो सकते हैं और इसलिये कि यह सब मेरे कारण ही है यदि मैं इस राज्य सुख का लोभ व्यर्थ समझकर इससे विरक्त हो जाऊं तो झंझट ही समाप्त हो जायेगा क्योंकि यह राज्य सुख तो हमारा कल्याण का कारण नहीं हो सकता, मैं, 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजन माहवे १/३१' युद्ध में अपने ही स्वजनों को मारकर कल्याण नहीं देखता अतः युद्ध से पूर्व मेरे भीतर बढ़ रही कामना और राज्य सुख की लालसा अब विगलित होकर नष्ट प्राय होती जा रही है राज्य सुख और विजय की उमंग धूलधूसरित हो रही है—'न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च १/३१' न तो विजय की चाह है न राज्य सुखों की लालसा क्योंकि—'किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा-येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च १/३२' जिनके लिये यह सब किया जा रहा है वह सभी बलिदान की वेदी पर अपने प्राण देने को सामने खड़े हैं—वे दुर्बुद्धि वाले कौरवगण, युद्ध से कल्याण करना चाहते हैं इसीलिये इन सब कौरवादि स्वजनों

की युद्ध के लिये सामने खड़े देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं और मुँह सूख रहा है। 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्-सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति १/२८ वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते—गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते १/२९' तथा मुझे पसीना आ रहा है रोमाञ्च हो रहा है गाण्डीव हाथ से खिसकता जा रहा है तथा शरीर जल रहा है। भले ही त्रिलोक का राज्य मिले, उसके सामने पृथिवी का राज्य तो अर्थहीन है तो भी, 'निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन १/३५' इनका वध करने से हमें कौन सा सुख प्राप्त होगा। यद्यपि सम्भावित पापाचार को देखना, लोभ के कारण इनकी सामर्थ्य से, क्षमता से बाहर है 'लोभोपहतचेतसः' के कारण ये विवश हैं किन्तु हम तो उस सम्भावित आत्महनन् से जानकार हैं, सावधान हैं, अतः हे श्रीकृष्ण! तुम्हीं कहो, हमें तो कुछ समझना चाहिये और इस पाप कर्म से हटने का, विरक्त होने का निश्चय करना चाहिये। तनिक विचार तो करो—मैं, 'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् यद्राज्य सुख लोभेन, हन्तुं स्वजन मुद्यताः १/४५' यह मानता हूँ कि हम उनके साथ सामान्य राज्य सुख के लिये स्वजनों की हत्या करें, यद्यपि माना कि ये कौरव, अपराधी हैं, आक्रमणकारी हैं-पूर्व संस्कार जनित पाप, लोभ और स्वार्थपरतामूलक पातक अर्थात् पतितकारी दृष्टिकोण, जिसके कारण यह घटना बन सकी है, कौरवों से आरम्भ हुए हैं इतने पर भी मेरा मानना है कि यह सब युद्ध के कारण नहीं बनते, क्या कुलधर्म की रक्षा के लिये, अथवा सामाजिक धर्म अथवा जातिधर्म की रक्षा और स्थापना के लिये? किन्तु इस युद्ध से, इस युद्ध में ये सभी आदर्श नष्ट हो जायेंगे, अतः मैं तो कहता हूँ कि यदि मुझ शस्त्ररहित को ये कौरव मार भी डालें तो वह मेरे लिए कल्याणकारी ही होगा (१/४६) युद्ध भूमि में यह सब कहकर, शोक से व्यथित होकर और बाण सहित धनुष का परित्याग करके रथ के पिछले भाग में अपने स्थान पर बैठ गया, ऐसा संजय ने धृतराष्ट्र को कहा—१/४७।

उपरोक्त कामेन्ट्री वर्तमान मैच कामेन्ट्री की भांति संजय, राजा धृतराष्ट्र को जो नेत्रान्ध तो थे ही, ज्ञानान्ध भी थे।

हम यदि विचार से, बुद्धि से, अन्ध दुराग्रह पूर्ण अन्धविश्वास परक मान्यताओं को परे फेंककर गीता अध्याय १ में वर्णित अर्जुन विषाद का अध्ययन करें तो हमें कुछ और ही मिलेगा, कि युद्ध से विरक्त होना अर्जुन के किसी सत्यभाव या साधुभाव के कारण नहीं हुआ, उसका तो समस्त जीवन युद्ध जैसे घोर-कर्म, हिंसा प्रधान, क्रूरकर्म, में बीता है। केवल इसका कारण है उसका मनोदौर्बल्य, विषाद, शोक, कार्पण्य, से उत्पन्न हुआ है।

उसकी अपनी प्रवृत्ति प्रकृति के अनुरूप नहीं है। वह युद्ध कर्म से विमुख नहीं हो सकता क्योंकि गीता स्पष्ट करती है—'प्रकृतिं यान्ति भूतानि, 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति १८/५९' कहा है 'अर्जुन प्रकृति ही कर्म कराती है, अर्जुन तेरी प्रकृति ही तुझे युद्ध प्रवृत्त कर देगी,' तेरा स्वभाव तुझे युद्ध के लिये बाध्य कर देगा, इसलिये कि सभी व्यक्तियों की प्रकृति में स्वयं परमात्मा का विधान उपस्थित है और वही प्राणियों के हृदय में बैठकर सभी का संचालन कर रहा है भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'।

गीता में वस्तुतः तीन बातें ऐसी पाई जाती हैं जिनका आध्यात्मिक महत्व है वे हैं भी हो प्रतीकात्मक। जो आध्यात्मिक जीवन और मानव सत्ता के मूलगत गम्भीरतम सम्बन्धों, और समस्याओं से सम्बन्ध रखती हैं।

वे तीन बातें हैं—भगवान श्रीकृष्ण, दिव्य गुरु और उनका दिव्य व्यक्तित्व उनके अपने शिष्य अर्जुन के साथ विशिष्ट प्रकार के सम्बन्ध और उनके उपदेश करने का प्रसंग। गुरु मानव भूमिका में स्वयं परमात्मा है और शिष्य अपने युग का मानव आत्माओं का प्रतिनिधि है वह मानव परमात्मा का घनिष्ठतम सखा और मनोनीत उपकरण है 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते श्वेताश्वतर उप०' एक विशाल कार्य, और संग्राम का नायक है जिस संग्राम का रहस्यपूर्ण उद्देश्य उस अभिनय के पात्रों को ज्ञात नहीं है अपितु केवल सर्वज्ञ सूत्रधारी उस भगवान् को ही ज्ञात है जो पर्दे के पीछे से संचालन कर रहा है तथा प्रसंग है इस कार्य और संग्राम में एक भीषण संकट जो ऐसे नाजुक क्षण में उपस्थित हुआ है कि विषाद और नैतिक कठिनाई तथा उसकी बाहरी घटनाओं का अन्ध संघर्ष संकट के प्रतिनिधि मनुष्य के मन पर प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर उसे प्रबल आघात पहुँचाता और यह प्रश्न उपस्थित करता है कि जगत में ईश्वर का क्या अर्थ है? मानव जीवन और आचरण का लक्ष्य, दिशा और उद्देश्य क्या है?

गीता में अर्जुन और श्रीकृष्ण जिनमें प्रथम मानव आत्मा और दूसरे परमात्मा हैं, ऋषियों के समान शान्त एकान्त तपोवन में बैठे चर्चा नहीं कर रहे हैं अपितु रणभेरियों के तुमुल निनाद से आकुल अस्त्रशस्त्रों की झनझनाहट से युद्ध भूमि में, वह युद्ध के रथ पर योद्धा और सारथि के रूप में विद्यमान हैं—यह मानव जीवन एक महाभारत है।

यद्यपि अर्जुन का सम्बन्ध केवल अपनी ही परिस्थिति से, अपने ही भीतरी संघर्ष से, और अपने ही कर्म विधान अर्थात् धर्म से है। तथापि जिस विशिष्ट प्रश्न को वह उठाता है और जिस ढङ्ग से वह उठाता है उससे वस्तुतः मानव जीवन और कर्म का ही सम्पूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है। अर्जुन जिस विषाद में

ध्यान की विधि

❀ श्री विष्णुप्रसाद व्यास

ॐ

१-अच्छे आसन सुख पूर्वक रहे, बैठ जाइए—
२-अजपा का अभ्यास लेटकर या बैठकर भी किया जाता है—
३-मगर एक आसन चुन लेना उचित रहेगा।
४-अब आँखें बन्द करिये—कुछ समय के लिये शिथिल हो जाइये—
५-समस्त चिन्ताओं को भूलिये, शांति एवं सुख का अनुभव कीजिए—
६-अनुभव कीजिये आराम से बैठे हैं—
७-प्रत्येक आने जाने वाली श्वास पर ध्यान रखिये—
८-भीतर आने वाली श्वास नाभि तक, बाहर आने वाली श्वास नाभि प्रदेश से आती है—
९-गहरी श्वांस लीजिये, श्वास के दो प्रवाह का अनुभव कीजिये—प्रत्येक श्वास के प्रति जागरूक रहिये—
१०-श्वांस-प्रश्वास के साथ "सोऽहम" का योग कीजिये—
११-प्राण एवं सुषुम्ना पर अखण्ड चेतना रखिये—
१२-अब भृकुटी, आज्ञा चक्र या हृदय चक्र पर चेतना को केन्द्रित कीजिये—
१३-किसी एक चक्र या मूलाधार का ध्यान कीजिये—
१४-विचार रोकिये, शून्यता का निर्माण कीजिये—
१५-विशेष केन्द्र पर सामान्य चेतना बनी रहे—
१६-सचेत होकर श्वांस लीजिये व छोड़िये—
१७-श्वांस-प्रश्वास के साथ पूर्णतः "सोऽहम" प्रारम्भ कीजिये—
१८-कुछ समय तक यह अभ्यास जारी रखिये—
१९-भीतर आने वाली श्वास के साथ "सो"

(पिछले पृष्ठ का शेष)

निमग्न है वह उस विषाद तथा निराशा का सूचक है जो कि मनुष्य मात्र अनुभव करता है क्योंकि वह विश्व को जैसा कि वस्तुतः वह दिखाई देता है उसे उसी प्रकार देखने को तथा उसी रूप में उसका सामना करने को विवश होता है और नैतिक भ्रम का पर्दा अपने आपको धार्मिक और पुण्यकर्मी मानने के भ्रम का पर्दा उसके सामने से हट जाता है तथा इससे जो संगति उसे प्राप्त नहीं हो पाती। अमरजीवन के पथ को प्राप्त करने से पहले हमें कुरुक्षेत्र को, मृत्यु के द्वारा जीवन के सिद्धान्त को स्वीकारना होगा। हमें अपनी आँखें खोलकर अर्जुन की अपेक्षा कम भयभीत दृष्टि से काल और मृत्यु के प्रभु का दर्शन करना होगा, विश्वसंहारक का निषेध करना या उसका तिरस्कार या घृणा करना या उससे डर कर विमुख होना छोड़कर उसके प्रति समर्पण करना होगा।

तथा बाहर आने वाली श्वांस के साथ "हम" के दर्शन करिये—

२०-आप रेचक के साथ "हम" का अनुभव कीजिये—और पूरक के साथ "सो" का—

२१-"हम" एवं "सो" के साथ विराम न हो—सदैव "हम सो" पर चेतना को बनाये रखें—

२२-"सो" भीतर जाने वाली श्वांस तरंग का अन्तरावलोकन है एवं 'हम' बाहर जाने वाली श्वांस का—

२३-'हम' एवं 'सो' के अलगाके पश्चात् शून्यता का निर्माण कीजिये—

२४-किसी प्रकार का विचार न करें। ध्यान के केन्द्र पर पूर्ण एकाग्रता रहे, क्रिया स्वाभाविक, मन को केन्द्र पर एकाग्र कीजिये—

२५-श्वांस की गहराई पर ध्यान रखें, इस "हम सो" के अभ्यास में ये बातें 'सोहम' की तरह होंगी—

२६-इसको एक माह करें—

यदि अत्यधिक तनाव न हो तो एक विधि है गिनती गिनने की। अन्दर और बाहर जाने वाली श्वांस के साथ एक गिनिये, भीतर जाने वाली एवं बाहर आने वाली श्वांस के साथ दो गिनिये इसी प्रकार चार तक गिनिये, चेतना को एकत्रित करिये, अनुभव कीजिये कि आप पांच गिन रहे हैं, इसी प्रकार सौ तक गिनती गिनिये—

२७-अब लययुक्त गहरी श्वांस लीजिये—

२८-किसी भी केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर 'सो' एवं 'हम' का ध्यान १ माह कीजिये—

२९-इस प्रकार "सोहम" एवं "हमसो" का निरंतर अवलोकन होना चाहिए। श्रृंखला न टूटे-इसमें शिथलीकरण, जागरूकता, एक हो जाना, घूम जाना, अब श्वांस को आज्ञा-चक्र से नीचे विशुद्ध, अनाहत, मणिपुर, स्वाधिष्ठान, मूलाधार तक घुमाइये और मूलाधार पर केन्द्रित कीजिये—

सुखद आसन, मेरुदण्ड सीधा-६ माहबाद अंगूठे से कानों को बन्द मेंचों एवं ओठों को अंगुलियों से बन्द, गहरी श्वांस, पूरकके पश्चात् नासिका छिद्रों को बन्द, चेतना को मेरुदण्ड में घुमाइये- पूरक लगाइये, कुम्भक लगाइये, आत्म-जागरूकता का अभ्यास कीजिये—

कल्पना शक्ति या धारणा शक्ति की आवश्यकता है—मानसिक विकारों का यह स्थाई इलाज है। ●●

—जो विद्या केवल पुस्तकों में रहती है और जो सम्पत्ति दूसरों की मुट्ठी में रहती है वह समय पड़ने पर निरर्थक होती है। न यह विद्या काम आती है न वह सम्पत्ति।

—धन की तीन गतियां हैं—दान भोग और नाश। जो मनुष्य न तो दान देता है न भोगता है, उसके धन का नाश हो जाता है। —भर्तृहरि

आधुनिक समाज एवं पातंजल योगदर्शन

❀ श्री डा० विजयसिंह

परमाणु अस्त्रों की विभीषिका प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति को भविष्य की भयावहता के प्रति आशंकित किये हुये है। विश्व-मानव त्रस्त है, आंतरिक तनावों, टूटते हुये संबन्ध-असामंजस्य तथा असाध्य रोगों की असहनीय पीड़ा की कल्पना से। आधुनिक विज्ञान ने मानव मन को तर्क शक्ति तो दी परन्तु हृदय की संवेदनाओं का हरण भी किया है। अतः परख की एकांगी-शक्ति मात्र संशय को जन्म देकर जीवन कि तमाम मधुर भावों को विनष्ट करने लगी है। विश्व में जितने आधुनिक विज्ञान-विकसित व समृद्ध देश है, वहां उतनी ही मानवीय संवेदन शून्यता व्याप्त है। बाहर तो अति गतिशीलता परन्तु अन्दर परम जड़ता व्याप्त है। मनोवैज्ञानिक समस्यायें इतनी जटिल हो चुकी है कि उनका निदान अब करपाना असम्भव हो गया है। जो एक तरफ भौतिक समृद्धि को प्राप्त है, वेही मनोरोग के भयंकर शिकार हो चुके है। उनमें आत्मघाती प्रवृत्तियां बार-बार उठा करती है। औषधियां निष्फल हो चुकी है, ऐसे रोगों में तथा आज आत्महत्या की संख्या भी दिनों-दिन बढ़ती जा रही है।

आश्चर्य की बात यह है कि समग्र विश्व को भौतिक रूप से पूर्व कालों के अपेक्षा अत्यधिक सुखी होना चाहिये, क्योंकि खाद्यान्नों की बहुलता, विज्ञान की उपादेयताओं की भर मार है। परन्तु होता यह है कि राष्ट्र खाद्यान्नों के ढेर के ढेर समुद्र में डुबा देते है जिस से मूल्यमानक ऊँचा बना रहे। राष्ट्रों का आपसी वैमनस्य मानव की जीवन-दैनन्दनी को तोड़-फोड़, आतंक, रासायनिक प्रक्रियाओं से होने वाले हजारों-हजारों की मृत्यु, युद्ध की प्रवंचनाओं से जकड़ दिया है। अतः शांतिमय स्वस्थ-जीवन की कामना आज कल्पना मात्र रह गयी है।

एक और बात आज दिखाई पड़ रही है। तथाकथित आस्तिक एवं नास्तिक रूपों में मानव समाज का बटवारा आस्तिक मतावलम्बियों का नाना धर्म सम्प्रदायों में बंटा होना, अपने-अपने धर्म सद्धिान्तों के रहस्य को अनुभूत किये बिना ही लोगों का धर्मान्धता में जकड़ते जाना। जिसके फलःस्वरूप दिन व दिन धर्म-उन्माद से साम्प्रदायिक दंगे होना तथा सबसे भयावहता तो इस बात की है कि अब अनेक छोटे राष्ट्र भी धर्मान्धता से ग्रसित हो आपसी युद्ध को बढ़ावा देने लगे है। ईरान ईराक युद्ध इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

साम्यवादी देशों की जनता भी बहुत स्थिर नहीं है। प्रशासनिक दबाव आभ्यान्तरिक गुणों के विकास को वशीभूत किये हुये है। उनका

जीवन यांत्रिक होता हुआ भावनाओं एवं संवेदनाओं से रहित होता जा रहा है। आज सबसे बड़ी आपदा मनुष्य ही मनुष्य केलिये बन गया है। परमाणु-शक्ति सम्पन्न कोई भी राष्ट्र या राष्ट्राध्यक्ष यदि दुर्योधन की भांति जटिल, कुटिल, दुराग्रही हुआ तो परमाणु युद्ध का श्रीगणेश समस्त भूतल को राखों के ढेर में बदल देगा, ऐसा निश्चय अब सभी का बनता जा रहा है।

उपरोक्त मानव जीवन की आधुनिक विसंगतियां क्योंकर उत्पन्न हुई है तथा कारण और निदान क्या हो सकता है इस पर भी विचार करना है। योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता में दो प्रवृत्तियों का जिक्र किया है। दैवी एवं आसुरी। जब मनुष्य के अन्दर अभय सत्व, दान, दम, अहिंसा सत्य, अक्रोध, त्याग दया, शांति, क्षमा आदि गुण होते है तब सारी सम्पत्ति दैवी हुआ करती है आज मनुष्य में इन प्रवृत्तियों की निराशाजनक स्थिति है। यही मूल कारण है आज विश्व समाज में व्याप्त भय, हिंसा से उत्पन्न मानवीय संबन्धों की असंगता में। आसुरी प्रवृत्ति वाला मानव समाज कैसा चिन्तन करता है इसका यथार्थ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण जगदात्मा ने श्री अर्जुन को बताया है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च
जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो
न सत्यं तेषु विद्यते ॥
—१६/१० गीता

अर्थात् आसुरी वृत्ति जिनकी होगी वे करने योग्य कार्य में अपने को नहीं लगायेंगे तथा न करने योग्य कार्य से अपने को विलग करने में भी असमर्थ होंगे। अतः उनमें न तो आन्तरिक और न बाह्य शुद्धि होगी। सत्य और श्रेष्ठ आचरण से भी वे कोसों दूर होंगे।

असत्यमप्रतिष्ठं ते
जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं
किमन्यत्कामहैतुकम् ॥
—१६/८ गीता

ऐसे स्वभाव वाले ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार नहीं करते तथा कहते है यह जगत् आश्रय रहित स्वयं भूत तथा स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न होता है अतः केवल भोग प्रधान ही है इस के सिवा कुछ और है भी क्या ?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य-
नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः
क्षयाय जगतोऽहिताः ॥
—१६/९ गीता

ऐसे अल्प बुद्धि (जिन्हें जीवन के गूढ़तम रहस्यों का बिल्कुल ज्ञान नहीं है।) जो जन्म-मरण को न जानते हों वे आपके वैज्ञानिक ही क्यों न हों, राजनेता क्यों न हों, सभी अल्प

बुद्धि वाले ही हैं। भगवान ने गीता में ही कहा है—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि
भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति
पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा॥

—गीता १५/१०

अर्थात् जो शरीर छोड़कर जाते हुये को अथवा इस काया में स्थित हुये को नहीं जानता वह अज्ञानी है, केवल ज्ञानरूप, नेत्र वाले ही इस तत्त्व को जानते हैं। अभी इस आत्मतत्त्व को जीवन रहस्य को किञ्चित मात्र भी वेधन-हमारे आधुनिक वैज्ञानिक नहीं कर पाये हैं। वे भी साधारण जनों की भांति मर्त्य-धर्मा ही हैं। ऐसे व्यक्ति अपकार करने वाले क्रूरकर्मा केवल जगत् के नाशके कारणभूत होते हैं। दम्भ, मान और मद तो इनकी हर चेष्टा से झलकता रहता है। असम्भव कामनाओं को पूरित करने हेतु मिथ्या सिद्धांतों की रचना कर भ्रष्ट आचरण का ही वर्तन करते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं
प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे
भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौमया हतः
शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी
सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥

—गीता १६/१३-१४

अहंकारं बलं दर्पं
कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु
प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

—गीता १६/१८

ऐसे लोगों की चाहना क्या है? वे मन में चिंतित रहते हैं कि मैंने आज यह पदार्थ व धन प्राप्त किया और अब इस मनोरथ को भी पूर्ण करलूंगा। मेरे पास यह सब और है वह सबको पालूंगा। उस शत्रु को मिटा दिया और जो हैं उन्हें भी नष्ट कर दूंगा। मैं ही ईश्वर और ऐश्वर्य को भोगने वाला हूं। मैं सब सिद्धियों से पूर्ण बलवान एवं सुखी हूं। ऐसे व्यक्ति अहं-कार, बल, घमण्ड कामना और क्रोधाग्नि के वशीभूत हुये दूसरों की सर्वत्र निन्दा करने में निमग्न रहा करते हैं। ऐसे लोग अपने तथा दूसरों में निवास करने वाले मुझ अन्तर्यामी से द्वेष करते हैं।

आज भगवान द्वारा विज्ञापित आसुरी प्रवृत्तियां ही विश्व-मानव के क्लेश, पतन और विनाशआदि का कारण हैं। विश्व-शांति का नारा मात्र अरण्य रोदन होकर रह गया है। अब इस विकट समस्या का समाधान क्या हो सकता है, जिससे मानव मात्र उपाधि-भेद

के सम्प्रदाय भेद के आस्तिक-नास्तिक भेद के बिना ही उबर सकता हो ?

एक बार आनन्दस्वरूप श्री सद्गुरु देव जी किसी व्यक्ति को उपदेश करते हुये बता रहे थे कि योग मानव मात्र के लिये है। आस्तिक पात्रता एवं अभ्यास तत्परता से इसमें सफल जहाँ होता है वहाँ नास्तिक भी प्रमाण प्राप्ति हेतु यदि अभ्यास करे तो उसका मन आध्यात्मिक अनुभूतियों से भर उठने पर वह भी आस्तिक बन सकता है। जैसे कोई वाराणसी शहर को मानने के लिये तैयार न हो और कोई जानकार व्यक्ति इस बहस में न पड़कर उस व्यक्ति से कहे अच्छा तुम इस रास्ते को पकड़कर अमुक-अमुक स्थलों से जाओ। इतनी देर इतनी गति से जहाँ पहुँचोगे उसके बारे में पता करके हमें बताना, बताने वाले ने उसे वाराणसी का ही रास्ता बताया है, अतः यदि वाराणसी को मानने वाला व्यक्ति उस पथ का अनुसरण करता रहा तो एक दिन स्वयमेव वाराणसी पहुँचकर उसकी यथार्थता को स्वीकार कर लेगा। यही बात योग द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार के हेतु भी सत्य है। आस्तिक-नास्तिक दोनों अभ्यास से यथार्थता का बोध प्राप्त कर सच्चे आस्तिक-भाव को पा सकते हैं।

इन्हीं बातों को दृष्टिगत रखते हुये एक अपूर्व अनूठे योग-ग्रंथ पातंजल-दर्शन पर विचार हमें करना है।

सांस की छोटी लहर !

काल के निस्सीम जल में सांस की छोटी लहर
जगमगाती जा रही
रश्मियां लाती उषा की
भेंट देने प्यार की
सांझ की किरणें सजाती
आरती मनुहार की
बन प्रतिध्वनि तीर एकाकी
अनन्त पुकार की—
गूँजता, जब झांकती सुख
स्वर्ण-छवि उस पार की
काल के निस्सीम जल में सांस की छोटी लहर
मुस्कुराती जा रही

आयु की वीणा बुलाती
है किसे झंकार से
वर्तमान अतीत दोनों
पूछते इस पार से
मौन रह उत्तर पठाती
यामिनी मँझधार से
झांकने लगता तभी कोई
नियति के द्वार से
काल के निस्सीम जल में सांस की छोटी लहर
जगमगाती जा रही
गीत गाती जा रही
सांस की छोटी लहर

— श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

हर आन हँसी, हर आन खुशी---

❀ श्रीकृष्णदत्त भट्ट

'नज़ीर' ने जीवन्मुक्त की कैसी बढ़िया तस्वीर खींची है—

कुछ जुल्म नहीं, कुछ जोर नहीं,
  कुछ दाद नहीं, फरियाद नहीं।
कुछ कैद नहीं, कुछ बन्द नहीं,
  कुछ जब्र नहीं, आज़ाद नहीं॥
शागिर्द, नहीं, उस्ताद नहीं,
  वीरान नहीं, आबाद नहीं।
हैं जितनी बातें दुनिया की,
  सब भूल गए कुछ याद नहीं॥
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
  हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुए,
  फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥

कैसा मजेदार होता है वह जीवन, जिसमें हर समय आनन्द, हर घड़ी मौज-मस्ती छायी रहती है।

आनन्द, आनन्द, आनन्द ही,
आठ पहर चौसठ घड़ी।
न किसी बात की चिन्ता,
न किसी बात की परवाह।
न किसी का डर,
न किसी का भय।
न ऊधो का लेना,
न माधो का देना।

× × × ×

हर समय मस्ती।
हर घड़ी खिलखिलाहट।
हर वक्त खुशी।
प्रसन्नता, मुस्कराहट, मस्ती—
इसके अलावा और कुछ नहीं।
रोम रोम आनन्द में डूबा है।
शरीर का अंग-अंग मस्ती में सराबोर है।
विषाद का कहीं नाम नहीं।
चिन्ता की कहीं रेखा नहीं।
परेशानी की कहीं छाया नहीं।
उदासी का कहीं पता नहीं।
घबराहट का कहीं चिह्न नहीं।
संसार के सारे पाप-ताप
दूर खड़े झख मार रहे हैं।
और सच पूछिए तो ऐसा
जीवन ही जीवन है।
उसी का जीवन सार्थक है,
जिसका रोम रोम पुकारता है।
"हर आन हँसी, हर आन खुशी........."

× × × ×

आप कहेंगे कि तुम भी कहाँ बरगला ले बैठे। इस विश्व-प्रपंच में रहते हुए भला कोई ऐसा भी जीवन बिता सकता है? लाखों में कोई एकाध पहुँचे हुए संत-महात्मा भले ऐसे निकल आयें, जो आठ पहर मस्त रहते हों पर हम संसारी लोगों के लिए तो ऐसी कल्पना भी

असम्भव है। दुनिया में रहते हुए हम उसके प्रहारों और प्रलोभनों को कैसे भूले रह सकते हैं ?

ठीक है आपकी दलील।

मैं मानता हूँ कि ऐसा जीवन बिताना मुश्किल है बहुत मुश्किल है, लेकिन इसके साथ ही मेरा यह भी दावा है कि चाहे तो कोई भी व्यक्ति ऐसा मस्ती भरा जीवन बिता सकता है।

मैं कहता हूँ कि गये से गया-गुजरा व्यक्ति भी आनन्दमय जीवन बिता सकता है, और जरूर बिता सकता है।

मैं होऊं, आप हों, राजा हो, रईस हो, किसान हो, मजदूर हो, सेठ हो साहूकार हो, पण्डित हो, चाण्डाल हो, कोई भी हो, ऐसा जीवन बिताया जा सकता है। संसार के जंजाल में रहते हुए भी ऐसा जीवन बिताया जा सकता है।

पर कोई ऐसा चाहे भी तो।

× × × ×

मुसीबतें आती हैं, परेशानियाँ आती हैं, चिन्ताएं घेरती हैं, प्रियजनों का वियोग होता है, धन सम्पत्ति का नाश होता है, व्यापार में घाटा लगता है, अप्रिय प्रसंग आते हैं, अपमान होता है, तिरस्कार होता है, संसार के थपेड़े लगते हैं और उनसे पल भर में आनन्द हवा हो जाता है। मस्ती धूल में मिल जाती है, हास्य रुदन में परिवर्तित हो जाता है, खिलखिलाहट आंसुओं में बदल जाती है।

कोई अप्रिय प्रसंग आता है, इच्छा के प्रतिकूल कोई घटना घटती है कि हमारी शान्ति के पैर उखड़ जाते हैं।

शरीर को कोई कष्ट मिलता है, खाने का संकट आ घेरता है, जीवन की अन्य आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं कि हमारा आसन डोल जाता है।

हमारे 'अहं' को ठेस लगती है, हमारे नाम पर ठोकर लगती है, हमारी इज्जत पर बट्टा लगता है कि हमारा मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है।

× × × ×

और मैं कहता हूँ कि ये ही वे मौके हैं, जिनमें हम संभलने का अभ्यास कर लें, बस बेड़ा पार है।

हर हालत में हम चित्त को प्रसन्न रखने की चेष्टा करें, इसकी आदत डाल लें हम भी स्थितप्रज्ञ हो सकते हैं, हम भी जीवन्मुक्त हो सकते हैं।

× × × ×

सुख-दुःख तो आयेंगे ही, हानि-लाभ तो होगा ही, सगे-सम्बन्धी तो मिलेंगे और बिछुड़ेंगे ही, आना जाना तो लगा ही रहेगा, प्रिय-अप्रिय प्रसंग तो आयेंगे ही। सृष्टि का नाम है यह। इन नियमों में अपवाद हो नहीं सकता।

फिर हम क्यों बुद्धि और विवेक से हाथ धो

बैठे ? संसार के प्रलोभनों, प्रहारों के आगे हम क्यों घुटने टेक दें ?

दुःखी होकर, निराश होकर, अशान्त होकर, उद्विग्न होकर बिगड़ी बातों को और बिगाड़ ही सकते हैं, बनाना तो दूर रहा।

जरूरत है कि हम अपना निराशात्मक दृष्टिकोण बदल डालें।

कोई भी प्रसंग आ जाय, कैसी भी स्थिति आकर घेरे, हम घबरायें नहीं। शान्ति से, प्रसन्नता से डटकर उसका सामना करें। मुसीबतों में भी, आपत्तियों में भी अपनी मस्ती और मुस्कराहट को हाथ से न जाने दें। तभी हमारी बहादुरी है, इसी में तो हमारी वीरता है, पुरुषार्थ है।

× × × ×

आप कह सकते हैं कि बात बनाना तो बहुत आसान है, इसे अमल में लाकर दिखाये तब जानें।

कथनी मीठी खांड़ सी
करनी विष की लोय।
कथनी तजि करनी करै,
विष ते अमृत होय॥

× × × ×

मैं मानता हूं कि यह टेढ़ी खीर है, दुःखद और अप्रिय प्रसंग उपस्थित होने पर बड़े-बड़ों के आसन डोल जाते हैं, फिर भी मेरी यह निश्चित धारणा है कि अभ्यास करें तो मनुष्य 'हर आन हंसी, हर आन खुशी' का जीवन बिता सकता है, जरूर बिता सकता है।

× × × ×

यहां मैं एक बात साफ कर दूं और वह यह कि हर समय प्रसन्न रहने के लिए, हर घड़ी मुस्कराने के लिए, सुख दुःख को एक तुला पर तोलने के लिए जबर्दस्त साधना करनी पड़ेगी सो भी दीर्घकाल तक। कोशिश करे तो हर आदमी इसमें सफलता पा सकता है।

× × × ×

घड़ी भर को तो सभी मुस्करा सकते हैं, यदि आध घंटे तो सभी हंस सकते हैं, पर हर समय मुस्कराना बहुत बड़ी बात है।

कारण—

वे लोग हमेशा मुस्कराते रह ही नहीं सकते
जिनका दृष्टिकोण ओछा है,
जिनका जीवन घृणा से दूषित है।
जिनका मन ईर्ष्या और लोभ से कलुषित है।

× × × ×

वह व्यक्ति भी सदा मुस्कराता नहीं रह सकता—
जिसे अपने महत्त्व का झूठा घमण्ड है,
जिसे अपनी शान का, अपने ओहदे का गर्व है,
जिसे अपनी रहन-सहन, अपने ठाट-बाट का गुमान है,
जिसे अपनी प्रतिष्ठा का अहंकार है,
जो अपनी थोथी धारणाओं को पकड़े बैठा है।

जो अपने आपको बुद्धिमानों का सरताज समझता है,
जो दूसरों से कुछ सीखना ही नहीं चाहता,
जो अनुभव की पाठशाला से सबक लेना ही नहीं चाहता,
जो अपनी बेवकूफियों पर खुलकर हँसता नहीं।

× × × ×

मतलब ?

हरदम हँसने के लिये, हरदम मुस्कराने के लिये जीवन का दृष्टिकोण ही बदलना पड़ेगा।

इसके लिए हृदय को ऊँचा उठाना पड़ेगा। उदार बनाना पड़ेगा।
मन को निष्कलुष बनाना पड़ेगा।
लोभ और ईर्ष्या से छुटकारा लेना पड़ेगा।
अपनी झूठी शान को मिटा देना पड़ेगा।
वैर और घृणा को धोड़ बहाना पड़ेगा।
मद और मत्सर से, अहंकार और दकियानूसीपन से किनाराकशी कर लेनी पड़ेगी।

× × × ×

सोचने की बात है कि हमारी मस्ती कब हमारा साथ छोड़ देती है ? हमारी शान्ति कब खिसकने लगती है ? हमारी प्रसन्नता कब किनाराकशी करने लगती है ? दुःख के बादल हमें कब घेरने लगते हैं ?

जब हम किसी का दिल दुखाते हैं, किसी का अपमान करते हैं।
जब हम झूठ बोलते हैं। गलत को सही और सही को गलत बताते हैं।
जब हम कड़ुवी बात जुबान से निकालते हैं।
जब हम किसी की निन्दा करते हैं। किसी को गाली देते हैं। किसी पर व्यंग्य कसते हैं।
जब हम व्यर्थ का वाद-विवाद करते हैं; समय की हत्या करते हैं।
जब हम चोरी करते हैं। मुफ्त में किसी की चीज हड़पते हैं।
जब हम किसी से घृणा करते हैं, किसी से द्वेष करते हैं।
जब हम दुर्व्यसनों में फँस जाते हैं।
जब हम दुराचार की कोई बात सोचते या करते हैं।
जब हम अन्धे होकर इन्द्रियों के इशारे पर नाचते हैं।
जब हम क्रोध में जलने लगते हैं।
जब हम मोह में बावले हो उठते हैं।
जब हम प्रलोभन के आगे घुटने टेक देते हैं।
जब हम धन-दौलत को ही प्रसन्नता का एकमात्र आधार मान लेते हैं।
जब हम भयभीत हो उठते हैं।
जब हम शरीर-सेवा को ही जीवन का ध्येय मान बैठते हैं।
जब हम अपने सामने दूसरों को कुछ नहीं गिनते हैं।
जब हम अपने ही मनोनुकूल सारी दुनिया

खोखुमाना चाहते हैं।

जब हम अहंकार में डूबकर विवेक छोड़ बैठते हैं।

जब हम कुछ काम नहीं करते। सिर्फ आलस में ही डूबे पड़े रहते हैं।

जब हम इतना काम करते हैं कि शरीर थक कर चूर हो जाता है।

जब हम पेट को ठूँस-ठूँसकर भर लेते हैं।

जब हम छोटी-छोटी बातों को अधिक महत्व देने लगते हैं।

जब हम आत्मा को भूलकर शरीर को ही सब कुछ मानने लगते हैं।

× × × ×

इन बातों से हम छुटकारा पा लें बस मस्ती ही मस्ती है।

× × × ×

आप कहेंगे कि इनमें तो सारा आचार शास्त्र, सारा धर्म-शास्त्र आ जाता है।

इन सब बातों का करना तो बहुत मुश्किल है?

आप घबराइये नहीं। हर समय हँसने-मुस्कराने, हर घड़ी मस्त रहने के लिए एक सीधा-सादा नुस्खा भी है।

और वह यह कि कोई भी बात सोचो, कोई भी बात बोलो, कोई भी काम करो, उससे पहले यह विचार करके देख लो कि इससे मेरा चित्त प्रसन्न रहेगा? इससे मेरा मन शान्त रहेगा? इससे मुझे आत्म-संतोष होगा?

जिससे चित्त प्रसन्न रहे, वही सोचो, वही बोलो, वही करो।

जीवन में शान्ति कैसे प्राप्त करें?

शान्ति का एक मात्र साधन गीता ने बार-बार बताया 'त्यागात् शान्तिः'। जहाँ फल त्याग होता है वहाँ शान्ति होती है। चाहे हम तपस्या करें, और लोग हमारा गौरव भी करते हों, लेकिन उस तपस्या में लाभ उठाने की बात हो तो उससे शान्ति नहीं मिलेगी। मैं तपस्या करता हूँ कोई दूसरा भी तपस्वी तपस्या करता है, आस-पास के लोग उसकी ज्यादा इज्जत करते हों तो उस तपस्वी के बारे में मेरे मन में मत्सर पैदा होगा। तपश्चर्या का फल मेरे मन में आकांक्षित है, तो उससे मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। एक माँ बच्चे की सेवा करती है, उसके बदले में फल की लालसा नहीं रखती। उस सेवा से उसे शान्ति मिलती है। तपस्या करो सेवा करो, त्याग करो लेकिन उसमें फल की आकांक्षा हो कि लोगों में हमारी कीर्ति हो तो शान्ति नहीं मिलेगी। शान्ति तो तब मिलेगी जब हम अपने कर्म से अपने को अलग कर देते हैं। 'यह तो समाज का काम है, मेरा नहीं फल की आकांक्षा मुझे नहीं करना चाहिए' इस प्रकार फल-त्याग से शान्ति मिलती है। गीता ने इसीलिए ध्यान से भी श्रेष्ठ फल-त्याग को बताया है।

—'विनोबा चिन्तन'

पत्रं·पुष्पं·फलं·तोयम्

(भर्तृहरि कृत शतकत्रये सूक्ति-संग्रह)

सम्पत्सु महतां चित्तं भवेदुत्पल कोमलम् ।
आपत्सु च महाशैल शिला संघात कर्कशम् ॥

अर्थात्

महात्माओं का मन सम्पत्ति प्राप्त होने पर कमल की तरह कोमल अर्थात् अत्यन्त दया द्र हुआ करता है और विपत्ति के समय बड़े पर्वत की चट्टानों की तरह अत्यन्त कठिन अर्थात् सहन करने की शक्ति वाला हुआ करता है।

× × × × ×

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्नं तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणामयानां परोपकारेर्नं तु चन्दनेन ॥

अर्थात्

कान शास्त्रों के सुनने से शोभित होता है कुण्डल से नहीं। हाथ की शोभा दान से है कंकण से नहीं। दयाशील पुरुषों का शरीर परोपकार से शोभा पाता है चन्दन से नहीं।

× × × × ×

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन याति वंश समुन्नतिम् ॥

अर्थात्

इस परिवर्तन शील संसार में कौन नहीं मरता और कौन नहीं जनमता परन्तु उसका जन्म लेना ही सफल होता है जिससे कि कुल और वंश की समुन्नति हो।

× × × × ×

लभते सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन् ।
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ॥

कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत् ।
न तु प्रतिनिविष्ट मूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥

अर्थात्

संभव है कि अगर यत्न किया जाय तो बालू को भी पेरकर तेल निकाला जा सके। संभव है कि प्यासा भी मृगतृष्णा से अपनी प्यास बुझा सके। संभव है कि खरगोश का सींग भी खोजने पर पाया जा सके। परन्तु यह कभी भी संभव नहीं हो सकता कि मूर्ख का चित्त जिस वस्तु पर अटक गया हो उससे हटाया जा सके।

× × × × ×

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो ।
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ॥
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं ।
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

अर्थात्

अग्नि का जल से, धूप का छाते से, उन्मत्त हाथी का नुकीले अंकुश से, बैल तथा गदहे का दण्ड से, व्याधियाँ अनेक प्रकार की औषधियों से और विविध प्रकार के मन्त्र और तन्त्रों के प्रयोगों से विष का निवारण हो सकता है। इस प्रकार सब की औषधि शास्त्र में कही है, परन्तु मूर्खता की कोई औषधि नहीं है।

× × × × ×

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥

अर्थात्

दरिद्र, संयमी, शान्त और शत्रु-मित्र में एक समान विचार रखने वाले, सदा सन्तोषी पुरुष के लिए सारी दिशायें आनन्द देने वाली होती है। अर्थात् ऐसे व्यक्ति को सर्वत्र आनन्द ही आनन्द उपलब्ध होता है।

× × × × ×

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवन यौवनम् ।
चलाचले च संसारे धर्म एकोहि निश्चलः ॥

अर्थात्

लक्ष्मी चंचल है, प्राण चंचल है, जीवन और यौवन भी चंचल है। इस चल-अचल संसार में धर्म एक मात्र धर्म ही निश्चल है यानी टिकाऊ है।

महावतार बाबाजी एवं उनका क्रियायोग

श्री जे० डी० उपाध्याय

महावतार बाबाजी तथा हमारे दादा गुरु एक ही है इसमें तनिक भी संदेह की गुंजाइश नहीं है। निम्न बातों से इसकी सत्यता प्रकाश में आती है:

(१) महावतार बाबाजी का जन्म चैत्र-मास की रामनवमी को हुआ था और हमारे दादा गुरु का जन्म भी ठीक इसी दिन का है।

(२) महावतार बाबाजी को उनके शिष्यों द्वारा प्राप्त पुस्तकों में पंजाबी साधु के नाम से भी जाना जाता है। जबकि हमारे दादा गुरु पंजाब के ही रहने वाले थे।

(३) महावतार बाबाजी सिर्फ एक ऐसे सिद्ध महापुरुष थे जो योगी होते हुए भी जनेऊ धारण करते थे। हमारे दादा गुरु भी जनेऊधारी थे।

(४) महावतार बाबाजी के दाढ़ी नहीं थी हमारे दादा गुरु के भी दाढ़ी नहीं थी जो स्वरूप हम देखते हैं उसमें उनकी दाढ़ी हमारे गुरुदेव की इच्छा से चित्रित हुई है।

(५) महावतार बाबाजी अपनी शिष्य मण्डली के साथ इधर-उधर घूमा करते थे। हमारे परमाराध्य दादा गुरु भी अपने बच्चों के साथ घूमा करते थे।

(६) बाबाजी के क्रिया योग का मुख्य आधार गीता का चौथा तथा आठवां अध्याय है। चौथे अध्याय का २९ वां श्लोक ही दीक्षा का मुख्य विषय जबकि हमारे दादा गुरु द्वारा प्रचलित दीक्षा भी इसी पर आधारित है। जैसे "अपाने जुह्वति प्राणं प्राणे अपानं तथा परे"। अपान वायु का मुख्य केन्द्र मूलाधार चक्र है जबकि प्राण वायु का मुख्य केन्द्र आज्ञा चक्र है। कुछ लोग अपान वायु को जोर से खींचकर आज्ञा चक्र तक लाते हैं, जिसे अपान वायु का प्राण वायु में हवन कहा जाता है। कुछ लोग प्राण वायु को खूब जोर से नीचे की ओर मूलाधार चक्र पर फेंकते हैं जिसे प्राण का अपान में हवन कहते हैं।

बाबाजी के क्रिया-योग में प्राण को अपान में तथा अपान को प्राण में हवन करने की जो विधि है। बिल्कुल वही विधि हमारे दादा गुरु द्वारा प्रचलित दीक्षा में है सिर्फ बहुत थोड़ा अन्तर है मूलतः दोनों एक ही है।

(७) दोनों ही की दीक्षा प्रणाली में आमिष खाद्य वर्जित है पर क्रिया योग में इसका प्रयोग बहुत ही कौशलपूर्ण तरीके से किया गया है (क्योंकि यह दीक्षा विदेशों में प्रचार के लिये दी गई थी। इसमें जिह्वा को खींचना तथा उलटना पड़ता है जिसे जिह्वा ग्रन्थी-वेध कहते हैं। जिह्वा ग्रन्थी वेध हो जाने से किसी भी वस्तु में स्वाद नहीं रह जाता है, और जिह्वा की संसुप्त,

समाप्त हो जाती है। कुछ ही दिनों के अभ्यास से जिह्वा का स्वाद ग्रहण करने की इच्छा समाप्त हो जाती है।

जबकि हमारे 'सिद्धयोग' में भी नाभि-चालन क्रिया के प्रभाव से भूख इतनी प्रबल हो जाती है कि सामने जो कुछ भी खाने को मिले उसी में स्वाद आने लगता है और जिह्वा की लोलुपता समाप्त हो जाती है।

(८) क्रिया योग को मुख्यतया चार भागों में विभक्त किया गया है (१) महामुद्रा (२) नाभि क्रिया (३) तालव्य क्रिया (४) योनि मुद्रा। इसमें साधक जब तालव्य क्रिया करता है तो जीभ को उलटकर नासिका-रन्ध्र में प्रवेश कराता है जिससे उसके पेट में काफी मात्रा में नजला चला जाता है जिसका स्वाद भी खट्टा और मीठा मिला हुआ होता है (जिसे साधक अज्ञानता वश सहस्रार चक्र से टपका हुआ अमृत समझता है और उस तालव्य क्रिया को खेचरी) इसके फलस्वरूप उसके पेट में दर्द होने लगता है तथा और कई तरह की पेट की बीमारियां हो जाती हैं जिसे गुरुदेवजी की असीम कृपा से जीवन तत्व साधन कराकर ठीक कर दिया है। (इन लोगों ने ही इस जीवन तत्व सिखाने के बदले में क्रिया योग के बारे में मुझे जान-कारी दी) स्वामी श्री मुक्तेश्वर गिरी के शिष्य योगानन्द के प्रशिष्य ध्यानानन्द महाराज मिदनापुर जिले के सुरतपुर में क्रिया योग की साधना कराते हैं उनके आश्रम में यह जीवन तत्व साधन क्रिया अधिक सम्मान अर्जित कर रही है।

यह बात सर्व विदित है कि श्यामा चरण लाहिड़ी की दीक्षा हिमालय के किसी प्रदेश में हुई थी। और हिमालय से नीचे आने के बाद जब हमारे दादा गुरु ने देखा कि श्यामा चरण लाहिड़ी की दी गई दीक्षाओं में कुछ कमी रह गई तो उन्होंने जीवन तत्व साधन क्रियाओं का प्रवर्तन किया?

(६) क्रियायोग साधना की मूल पुस्तक गीता है। हमारे दादा गुरु के द्वारा प्रवर्तित पथ में भी गीता को उतनी ही निष्ठा तथा आदर के साथ पाठ किया जाता है। क्रिया-योग में गीता की व्याख्या के लिये पातंजल योग दर्शन का उदाहरण दिया जाता है तथा हमारे यहां पातंजल योग दर्शन के लिए गीता का उदाहरण शकादूय प्रमाण रूप से व्यवहृत होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता तथा पातंजल योग दर्शन ही दोनों पथों में है चाहे महावतार बाबाजी हों अथवा हमारे दादा गुरु।

अन्त में लेख में हुई त्रुटियों के लिये मैं दादा गुरु से क्षमा प्रार्थी हूं, मुझे पूरा भरोसा है कि जैसे महाजनों को मूल की अपेक्षा सूद अधिक प्रिय होता है उसी प्रकार मैं अपने दादा गुरु का प्रिय हूं।

॥

—: पॉलब्रण्टन सद्गुरु की खोज में :—

※ एक योग-साधक

परमहंस योगानन्द जी ने लिखा है कि योगानुभूति सब को सहज सुलभ हो सकती है यदि सिद्धयोग का वातावरण एवं सहज जिज्ञासु अंतःकरण हो। जन्म-जन्मान्तर से कष्ट सहता चला आ रहा जीव जब सिद्ध सद्गुरु का सामीप्य पाता है तब उसे अचानक आभ्यान्तरिक शांति-सुख का बोध होने लगता है। ज्यों-ज्यों वह सद्गुरु की कृपा को आत्मसात करता जाता है, त्यों-त्यों आभ्यान्तरिक अनुभूतियों के कारण उसमें सद्विवेक एवं श्रद्धा का विकास होता है तब वह मनुष्य रूपी गुरु में अधिष्ठान किये हुये परमात्मा को थोड़ा थोड़ा समझने लगता है। नास्तिक व्यक्ति भी सद्गुरु की कृपा शक्ति से आस्तिक बन जाते हैं। अधन्य कर्मा व्यक्ति परम संत बन जाते हैं। मन प्रमाण ग्राही है। प्रमाण पाते ही उसी रंग में रंग उठता है। अंगुलीमाल व भगवान बुद्ध, मंगामल-रामरतो व आनन्दकन्द श्री महाप्रभु जी, तर्कवादी नरेन्द्र व श्री रामकृष्ण तमाम ऐसे उदाहरण हैं जीव के अंतःकरण के रूपान्तरण का। श्री सद्गुरु के शक्तिपात से यह शक्ति संदेश शिष्यों में प्रवहमान रहा करती है मन के परिपाक एवं शक्ति के हेतुक दृष्टि से यह परिवर्तन न्यूनाधिक सभी व्यक्तियों में प्रकट होता है। यह शक्ति पार्थिव नहीं है। यह चिन्मय है। यही श्री गुरु का चिन्मय रूप है जो शिष्य में प्रवेश कर, उसके अन्तर-जगत में कार्य करने लगता है। ये ही मलावरणों का भेदन, छेदन, शोधन प्रक्षालन कर जीव को शिव में परिवर्तित कर देते हैं। तभी भवाटवी जल जाती है। भव सागर सूख जाता है। आवागमन का चक्र खण्डित होकर समाप्त हो जाता है। सारे दुःखों का अवसान होता है।

'सिद्धयोग' के सुहृद पाठक जिन को अपने सद्गुरु देव की कृपा प्राप्त है, जो साधन में लगे हुये हैं, श्री सिद्ध गुफा की महिमा जिन के जीवन में व्याप्त है, उनके लिये अंतर जगत की बातें जागृत जीवन के कार्य क्षेत्रों की ही भाँति सहज सुलभ लगा करती हैं। जिस का एक मात्र कारण उन परम गुरु की अहैतुकी शक्तिपात ही है जिसके द्वारा साधारण से साधारण जीव को सम्प्रज्ञात योग की उपलब्धि हो जाया करती है। जिसके लिये तमाम लोग साधु वेश धारण किये जंगलों में भटकते फिरते हैं। आज से कुछेक वर्ष पूर्व ऋषिकेश में गंगातट पर रहने वाले एक प्रौढ़ बंगाली महात्मा से मेरी भेंट हुई थी। उनके हाथों में 'पातंजल योग-दर्शन' देखकर ही मुझे उनसे बात करने की मन में उत्कण्ठा हुई। बातों से पता चला कि वे कलकत्ता के किसी बैंक में नौकरी करते थे। अंतर-सुख की चाह

थी। हिमालय में सच्चे सद्गुरु की खोज में घर-द्वार-भूमि छोड़कर निकल पड़े। मैंने पूछा-क्या किसी सिद्ध का दर्शन हुआ ? उन्होंने कहा—कहाँ ऐसा मेरा भाग्य ? मैंने कहा आप पातंजल-दर्शन पढ़ रहे हैं। स्वाध्यायशील हैं, क्या कोई परोक्ष-अपरोक्ष आध्यात्मिक अनुभूति हुई। कुछ मौन रह कर बड़ी संकोच से वे साधु बोले—अभी दो चार रोज पूर्व सम्प्रज्ञात समाधि से सम्बन्धित सूत्रों का चिन्तन कर रहा था कि अचानक अवसाद में नींद सी आ गयी और उस निद्रा में ही कुछ कृतार्थ होने वाली बात घटित हुई। वाणी से उस अनुभव को व्यक्त कर पाना सम्भव नहीं है परन्तु जो अनुभूति हो रही थी उसके प्रति बुद्धि आश्चर्यान्वित थी अतः एक दिव्य आवाज सुनाई पड़ी जैसे कोई सिद्ध पुरुष कह रहे थे "यही सम्प्रज्ञात बोध है।"

आनन्दकन्द सद्गुरु जी के सभी बालकों को जिन्हें नित्य ध्यान, तन्द्रा, स्वप्न, दृष्टान्तों के माध्यम से अन्तर्जगत के तमाम रहस्य भासित होते रहते हैं तथा वे भाग्यवान जिन को तुर्या स्थिति प्राप्त हो चुकी है। जो खुली आँखों आत्मज्योति का बोध करते हैं। जिन को सिद्धों के नित्य ही दर्शन-स्पर्शन व वरदान सुलभ है। उनके भाग्य पुरुषार्थ का तथा सद्गुरुकृपा का चिन्तन कर मन भर उठता है गौरव बोध से जो निश्चित ही हमारे क्षुद्र अहंविकार का ही परिचायक है। इस लेख में एक ऐसी घटना जिसका सम्बन्ध इसी शताब्दी के पूर्वार्द्ध से है हमें वर्णित करना है। किसी समय "Search in Secred India" नामक पुस्तक को स्वानुभव से पालब्रण्टन ने लिखा था, सारे पश्चिमी दुनिया की आँखें खोल दी थीं। उनमें भी आशा का संचार जाग उठा था कि वह प्राचीन योग विद्या हमारे भी जीवन में आमूल चूल क्रांति लाने वाली है। अब हम इसी पुस्तक का सार संक्षेप में व्यक्त करता हूँ—

वर्तमान सदी के पूर्वार्द्ध में, जब विश्व भारतीय प्राचीन,विज्ञान योग एवं योगियों के रहस्य पूर्ण अस्तित्व से इतना परिचित नहीं था जितना की आजकल, तब भी इक्के-दुक्के अंग्रेज पर्यटक जिन्हें कभी सौभाग्यवश अथवा भूले-भटके भारत के योगी पुरुषों से मिलने का मौका मिला, वे अपनी-अपनी समझ के अनुसार योग एवं योगियों का अद्भुत वृत्तान्त अपने पाश्चात्य जगत को बताया और सुनाया। वे बार-बार यह बात दुहराते कि भारतवर्ष के प्राचीन-विज्ञान का भण्डार अत्यन्त रहस्यपूर्ण है और उसके अनुसरण तथा अभ्यास से निश्चय ही मानसिक शक्तियों का असाधारण विकास हो जाता है। इन्हीं बातों से प्रभावित होकर पालब्रण्टन भारत आया। उसने गाँव, पहाड़, जंगल, शहरों खाक छान मारा तथा जहाँ कहीं उनको किसी योगी, संत फकीर का समाचार ज्ञात हुआ गया।

सर्व प्रथम बम्बई में उसकी मुलाकात एक मिस्री जादूगर से हुई जो प्रेतों को वश में किये हुये था। उसने कुछ अतीत की बातें तथा अनेक क्षुद्र चमत्कार का जाल रच कर पालब्रण्टन को दिखाया। भ्रमण के दौरान उसे अनेक सन्त, महन्त, चमत्कारी जादूगर, बाजीगर मिले परन्तु वह जिन से प्रभावित हुआ अथवा जिनकी आलोचना करना उचित समझा उनका ही जिक्र अपने पुस्तक में किया है। फिर उसकी दूसरी मुठभेड़, उस काल में अपने को अवतारी पुरुष घोषित करने वाले मेहरे बाबा से हुई। इन अवतारी पुरुष का कहना था कि "मैं दुनिया के इतिहास को ही पलट दूँगा।" उनकी उस समय की की गई अनेक भविष्यवाणियां थीं जो आगे सत्य घटित नहीं हुईं। किसी उपासनी महाराज ने इस युवक मेहरे को शक्तिपात या कुछ ऐसा ही किया था जिससे वे अध्यात्म जगत के भाव आवेशों में खोये रहा करते थे। परन्तु हम सभी यह जानते हैं कि "ऋतम्भरा प्रज्ञा" को प्राप्त किये बिना कोई पुरुष यथार्थ भविष्य वक्ता नहीं हो सकता। अन्तर-जगत में थोड़ा उत्थान किया हुआ व्यक्ति उत्तम सिद्धान्त वक्ता नहीं हो सकता।

इसी तरह भ्रमण करता हुआ एक दूसरे सिद्ध सन्तों, फकीरों का पता पूछता हुआ वह पूना गया। वहां उसे एक फकीरन के बारे में ज्ञात हुआ। यह फकीरन सौ वर्ष के निकट थी, जिसके जिस्म पर हड्डी और चमड़े के सिवा और कुछ भी नहीं रह गया था परन्तु उसकी दृष्टि में विचित्रता थी। मुलाकात के समय उसने पालब्रण्टन के हाथों को अपने हाथ में ले लिया और स्थिरता के साथ उस की ओर ताकती रही फिर उसने कहा—तुम ईश्वरीय प्रेरणा से ही यहां आये हो और यह बात तुम शीघ्र ही समझ लोगे।

दक्षिण भारत की यात्रा में उसकी भेंट अचानक एक युवक योगाभ्यासी, एकान्तवासी से दैवगत हुई, जिससे सम्पर्क होने पर इसे हठयोग, राजयोग का विशद ज्ञान मिला। पालब्रण्टन इस योगी ब्रह्म के निरन्तर सम्पर्क से कुछ-कुछ यथार्थ अध्यात्म विद्या-योग के स्वरूपको जान सका। इस योगी ने प्राण अवरोध का प्रमाण हृदय-गति रोककर उसे दिखाया तथा तमाम शारीरिक योगासनों को प्रत्यक्ष किया एवं उनके आध्यात्मिक लाभ को बताया इस तरह, किन्तु, योगी ने उसकी अनेक भ्रान्त धारणाओं का खण्डन किया जो उसने कल्पना से योग के बारे में सुन-पढ़कर बना रक्खी थी। किसी अन्य लेख में सविस्तार इस प्रसंग को देना उचित होगा। जिस समय पालब्रण्टन सद्गुरु प्राप्ति की दुरूहता से घबड़ा उठा था, इसी योगी ब्रह्म ने उसे सान्त्वना देकर कहा था कि—"कल रात हमारे अमर गुरुदेव ने जो हिमालय नेपाल में रहते हैं, मुझे दर्शन दिये। उन्होंने तुम्हारे बारे में कहा है कि

यह तुम्हारा मित्र ज्ञान पानेके लिये लालायित है। अपने पिछले जन्म में यह हमारे बीच में था। इसने तब योग का अभ्यास किया, लेकिन हमारी पद्धति के अनुसार नहीं। आज यह फिर यहाँ आया है, लेकिन गोरे चमड़े में। पिछले जन्म में जो जानता था वह इस समय इसे विस्मृत है। जब तक इसके गुरु की कृपा नहीं होगी तब तक इसे पूर्व का ज्ञान नहीं होगा। गुरु की कृपा होते ही इसी शरीर से इसे अपने पूर्व ज्ञान की स्मृति हो जायेगी। इस से कह दो जल्द ही सद्गुरु प्राप्ति का समय आने वाला है, इसमें सन्देह नहीं है। यह बेचैन न हो। जब तक मेरी बात चरितार्थ न हो यह इस भूमि को छोड़कर न जाय।" पाल-ब्रण्टन ने संदेह प्रकट किया और कहा-आपने तो मुझ को बताया था कि आपके गुरु सुदूर नेपाल में है? तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि कोई एक ही रात में १२०० मील का फासला तै कर बैठे? योगी ब्रह्म मुस्काय उठे और बोले हिन्दुस्तान का एक छोर से दूसरे छोर का फासला भले ही दूर हो पर मेरे लिये मेरे सद्गुरु हमेशा उपस्थित रहते है। हवा में से उनके विचार मेरे पास पहुँच जाते हैं। जब वे स्वयं आते हैं तब भी मुझे पता चल जाता है।

इसी भ्रमण में मद्रास शहर के निकटवर्ती ग्राम में निवास करने वाले एक सिद्ध योगी की खबर उसे लगी। प्रथमतः उसे उनसे मिल ने में सफलता नहीं प्राप्त हुई, परन्तु उनके भूगर्भ कक्ष में वह जाकर दर्शन कर आया। वे ध्यानकी मुद्रा में समाधिस्थ थे। दूसरी बार योगी ब्रह्म के साथ वह गया। इस बार भी वे पहले के तरह ही समाधिस्थ थे। तीन चार घण्टा व्यतीत होने पर उन योगी के शरीर में कुछ कुछ गति हुई। पहले पलकें हिलीं जो प्रस्तरमूर्ति की तरह अड़िग थीं फिर पुतलियां भयानक रूप से फिरने लगीं और उनकी सफेदी चमकने लगी। फिर आंखें साधारण स्थिति में आई। पांच मिनट और बीते तब उन्होंने योगी ब्रह्म की ओर देखा तब उसे उन्होंने देखा। पालब्रण्टन ने एक-कागज और पेंसिल उनके चरणों के पास रख दी। ससंकोच उन्होंने लिखा—गहरी समाधि में रहने वाले योगियों के पास जाकर उन्हें बाधा पहुँचाने वाली हरकत भूलकर नहीं करना। मेरी बात छोड़ दो, यह दूसरों के लिये मैं तुम्हें चेतावनी दे रहा हूँ। वे तुम्हें दण्ड इस बात के लिये दे सकते हैं। पालब्रण्टन ने अपनी धृष्टता के लिये बार-बार क्षमायाचना की और कहा—समुद्र पार ही मैंने सुना था भारत में योग सिद्ध महात्मा हैं उनके ही दर्शन के लिये मैं भटक रहा हूँ बड़ा हैरान हो गया हूँ। योगी प्रवर ने कहा—"जब निर्मल मधु की अमन्दधारा ही तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है तब तुम ज्ञान-मकरंद के बिन्दुओं को चूसने वाली मधुमक्खी के तरह यत्र-तत्र क्यों भटकते हो।

(२)

पिछले प्रकरण में पालब्रण्टन ने गुफा में गुफावासी योगी से साक्षात्कार ही मात्र नहीं किया अपितु शक्तिपात का पहला अनुभव भी अस्पष्ट रूप से उसे हुआ। उसने अपने आधुनिक मंतव्यों विचारधाराओं के अनुकूल एक प्रश्न उनसे किया। उसने पूछा—स्वामी जी, आज दुनिया आप जैसों से मदद चाहती है, परन्तु आप जैसे ऐसे एकान्तवास में लीन हैं? योगी प्रवर ने सहास्य कहा—बेटे, जब तुम अपने आपको ही नहीं समझ सकते तब फिर मेरे व्यवहार का अर्थ स्वप्न में भी क्या समझ सकोगे? योगाभ्यास से अपने अन्दर बैठो और साधना तब तक करते रहो जब तक आत्मा का पूरा-पूरा रहस्य तुम पर न खुल जाय। तब ही तुम ठीक-ठीक जान पाओगे कि संसार की सेवा के लिये तुम्हें क्या करना है? उस समय सेवा करने की ताकत की कमी भी नहीं होगी। तुम्हारे यहाँ आने से मैं प्रसन्न हुआ हूँ। इसी को मेरी दी हुई दीक्षा समझो। उनके यह कहते ही पालब्रण्टन को अजीब शक्ति अपने अन्दर उठती हुई प्रतीत हुई। वह शक्ति मेरुदण्ड में होकर बह उठी। उसे आभास हुआ कि इन योगिराज ने मेरी संकल्प शक्ति को प्रखर बना दिया है।

दूसरे महापुरुष जिसने इस पर्यटक, सिद्ध अन्वेषी पर कृपा की वे थे जगद्गुरु शंकराचार्य कुम्भकोणम के, उन्होंने भी उससे कहा—तत्परता से लगे रहो तुम को गुरु मिल ही जायेंगे। उसने पूछा—भगवन् कृपया मुझे आप ही किसी सद्गुरु का पता बता दें क्योंकि सच्चे गुरु विरले ही मिलते हैं। शंकराचार्य जी गम्भीर भाव से बोले—तुम्हारे मनोभावों के परितृप्ति करने लायक दो योगी मेरी दृष्टि में हैं। एक काशी में जनता की दृष्टि से छिपे हुये रहा करते हैं परन्तु मुझे शंका है कि कदाचित् वे अंग्रेज को शिष्य रूप में स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरे सुदूर दक्षिण में रहते हैं। उच्चकोटि के योगी हैं उनके पास तुम्हारी साध पूरी होगी। तुम उन्हीं के पास जाओ वे महर्षि रमण के नाम से जाने जाते हैं। ज्योतिगिरि अरुणाचल पर निवास करते हैं। साथ ही उन्होंने अपनी कृपा दृष्टि डालते हुये कहा तुम जब भी मुझे स्मरण करोगे हम भी तुम्हें याद करेंगे। उसी रात पालब्रण्टन को एक अद्भुत दिव्य अनुभव जाग्रत अवस्था में ही हुआ। रात्रि में लगभग तीन बजे अचानक उसकी नींद खुल गई। उसे आभास हुआ जैसे यह कमरा विद्युत आवेश से भर उठा है। तभी उसने अपने सामने कोई चीज अंधेरे में चमकती हुई देखी। वह उठ बैठा। उसने चकित दृष्टि से सामने श्री स्वामी शंकराचार्य जी को देखा। वह भ्रम नहीं था। वे ठोस साकार परन्तु एक विचित्र तेज पुंज से युक्त थे। उसने घटना को परखने के लिये आँखें मीच ली पर वह क्या

आंखों के सामने तब भी रही थे। उसे प्रतीत हुआ उस दिव्य मूर्ति से एक गरिमामय स्नेह प्रसारित हो रहा है। उसने आंख भर कर उन्हें देखा। उसे लगा स्वामी जी मुस्कराते हुये बोले—विनम्र बनो, तुम्हें अपनी साधना की वस्तु अवश्य ही प्राप्त होगी। यह कह कर वह स्वरूप अन्तर्धान हुआ।

श्री शंकराचार्य जी की प्रेरणा से वह अरुणाचल के भगवान महर्षि रमण के शरण में आया। वहां निवास करते हुये उसे अपने अन्तर-रमण करने की शक्ति महर्षि रमण से प्राप्त हुई। तब एक दिन वह महर्षि के पास बैठा हुआ था। अन्य दिनों की तरह ही उसे उनके सान्निध्य में होने मात्र से अपूर्व शांति और अन्तरवृत्ति की जागृति का बोध होने लगा। उसे ध्यान की तंद्रा अवस्था प्राप्त हो गयी। उसने स्पष्ट देखा कि मात्र पांच वर्ष का छोटा बालक है। महर्षि का हाथ पकड़े हुये तभी उसे अनुभव हुआ कि महर्षि बहुत दीर्घकाय हो गये। वे आश्रम से दूर ले चले, धीमी चाल से घुमावदार पर्वतीय रास्ते से। चारों ओर विशाल शिलाखण्ड थे। बाट विकट थी परन्तु महर्षि बड़ी सावधानी से लिये जा रहे थे। पहाड़ का चढ़ाव खतरनाक था। परन्तु कहीं-कहीं छोटी कुटियां अथवा पर्वत गुफा दीख जाती थीं। जिनके निवासी निकल निकलकर उन लोगों की आवभगत करते थे। वे सभी योगी थे। कहीं नहीं रुके और चोटी पर पहुँचने तक चलते रहे। अन्त में एक बार, महर्षि उसकी ओर घूमकर सीधे चेहरे को ताकने लगे, वह भी पूर्ण उत्सुकता से उनकी ओर निहारने लगा। उसे लगा उसके दिल और मन का बड़ा ही द्रुति गति से परिवर्तन हो रहा है। अविश्वास तथा तमाम शंकायें बर्फ की तरह गल कर बह उठीं, बाधित हुईं और अदृश्य हो गयीं। उसे अकथनीय शांति ने आवृत कर लिया। उसे दृढ़ता से भासने लगा कि जिन्दगी में इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है, जिसकी उसे चाह हो।

सहसा महर्षि की आज्ञा सुनाई पड़ी। पहाड़ के नीचे देखो क्या है? वह पहाड़ की तली में फैला पश्चिम का भूभाग देखा, जन समुदाय तथा अनेक परिचित चेहरे भी दिखाई पड़े। पुनः महर्षि की आवाज उसने सुनी। वे स्पष्ट पर धीरे बोल रहे थे—यह शान्ति तुम्हारे साथ सदैव रहेगी और उन्होंने एक ज्योति-शलाका का एक सिरा उसके हाथ में पकड़ा दिया।

ध्यान टूटने पर उसे पता चला काफी समय व्यतीत हो चुका है। इस अनुभव के बाद वह थोड़े दिन रहकर पुनः भारतभ्रमण पर निकला। भ्रमण पर जाने से पूर्व उसे एक बार पुनः महर्षि से बात करने का अवसर मिला। उसने पूछा—लोगों का कहना है कि सत्य की खोज में संसार का त्याग करके निर्जन

वन और पर्वतों का आश्रय लेना आवश्यक है जो की पश्चिम के लोगों से होना असम्भव है फिर योगानुभूति कैसे प्राप्त की जा सकती है ?

महर्षि ने कहा—कर्म संन्यास की आवश्यकता नहीं है। यदि तुम हर रोज एक-दो घण्टे तक ध्यान करते रहोगे तो अपने सांसारिक कर्त्तव्यों का त्याग करने की जरूरत नहीं होगी। क्योंकि ध्यान से एक सतत् अन्तरचिंतन की धारा बनी रहेगी। ध्यान की प्रगाढ़ता के साथ तुम्हारा घटनाओं तथा वस्तुओं के प्रति दृष्टिकोण भी क्रमशः परिवर्तित होता जायेगा। तुम्हारे कार्य-कलाप आप ही तुम्हारे ध्यान का अनुसरण करने को उन्मुख होजायेंगे। जहां तक सत्य अथवा तत्व के अन्वेषण की बात है, हिन्दुओं और युरोपियनों दोनों के लिए एक सा है। निःसंदेह, जो दुनियावी काम-काज में, अपने को आकण्ठ डुबो लिये है उनके लिये यह कार्य कुछ कठिन हो सकता है। तब भी यह बात उनको जान लेना चाहिये कि उनमें भी शक्ति वही निहित है। ध्यान के समय जो विचार-धारा जाग पड़ेगी, उस धारा में ही रहकर आदमी अपना दुनियावी काम-काज भी कर सकता है।

पालब्रण्टन का यद्यपि मन महर्षि को छोड़ कर जाने का नहीं था परन्तु उसके तार्किक, खोजी मन में अभी पूर्ण समर्पण भाव नहीं बन पाया था। अस्तु, सिद्ध सद्गुरु की खोज में पुनः निकल पड़ा। यात्रा में एक वकील साहब ने उसे श्री रामकृष्णदेव के शिष्य मास्टर महाशय का परिचय व पता दिया। मास्टर महाशय से मिलकर वह बड़ा हर्षित हुआ। मास्टर महाशय ने उससे स्पष्ट कहा—"एक अप्राकृतिक शक्ति ने तुम्हें भारत में आने के लिये प्रेरित किया और वही तुम्हें हमारे देश के साधु-संतों से मिलवा रही है। भावी अवश्य प्रकट करेगी कि इसका गूढ़ आशय क्या है ? शांति के साथ तुम प्रतीक्षा में रहो। पालब्रण्टन ने उनसे पूछा—यदि किसी का मन तर्क और संशय से भरा हो, उसके दिल को ईश्वर की प्रार्थना भी न भाती हो, ऐसे व्यक्ति को आप कौन सा उपदेश देंगे ?

× × ×

ऐसे व्यक्ति को चाहिये वह अपना जीवन उन साधु संतों की सेवा में, संग में, बितावे जो सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति पा ली है। ऐसे सत् संग से उनमें इसी गुण का स्वयमेव विकास होगा। और ऐसा करने से ही योगोपलब्धि संभव भी है। यही पहली भी तथा आखिरी भी सीढ़ी है।

पालब्रण्टन कलकत्ते से वाराणसी आया। यहां ही उसने स्वामी विशुद्धानन्द जी के दर्शन किये। गंधी बाबा के नाम से मशहूर करामाती, तांत्रिक योगी श्री विशुद्धानन्द जी ने इसे तमाम यौगिक विभूतियों का प्रदर्शन दिखाया। पालब्रण्टन के मन चाहे सुगन्धों को

कमाल के तमाम भागों में प्रकट किया। एक मृत गोरैया को उसके सामने ही मंत्र प्रयोग से जीवित कर दिखाया। उसने स्वामी जी से पूछा आपने यह सारी करामातें कैसे दिखाईं?

विशुद्धानन्द जी ने कहा—जो कुछ तुम ने देखा है, वह योग का परिणाम नहीं है, यह और विद्या का फल है योग का सार यही है कि योगी अपनी चित्त वृत्तियों का निरोध कर ले और ध्यान तथा समाधि की ओर बढ़े।

पालब्रण्टन ने पूछा—संबोध किस तरह प्राप्त हो सकता है?

स्वामी जी ने कहा—जब तक योग का अभ्यास न करो संबोध कैसे होगा? सबसे मुख्य बात है कि योगाभ्यास के लिये एक निश्चित समय ठीक कर लें और उससे किसी हालत में विचलित न हों। अभ्यास के समय को बढ़ाते जाना चाहिए। ध्यान रहे मेरुदण्ड सदा सीधा हो, इससे शारीरिक समता और मानसिक शांति प्राप्त होगी। शरीर का मन पर और मन का शरीर पर असर होता है।

पालब्रण्टन ने पूछा—मुझे बताया गया है कि बिना गुरु के योग के सफल अभ्यास तो दूर उसका श्री गणेश भी किया नहीं जा सकता। सच्चे सद्गुरु का होना दुर्लभ है।

स्वामी—जिज्ञासु की तैयारी हो तो सद्गुरु अपने आप मिल जाते हैं। प्रतिदिन सहज आसन से निश्चित समय पर निश्चित अवधि तक बैठने का अभ्यास करने से मन एकाग्रता की ओर उन्मुख हो उठता है।

❁ कर्म के चार भाग ❁

—सुख-दुःख रूप फल के अनुसार कर्म चार में भाग विभक्त है, यथा—शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण एवं अशुक्लाकृष्ण। सुखफल कर्म शुक्ल है, दुःखफल कर्म कृष्ण है, मिश्रफल कर्म शुक्ल-कृष्ण है, एवं अशुक्लाकृष्ण कर्म सुख-दुःख-शून्य शान्तिफल है।

—प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित इन तीन प्रकारोंसे भी कर्म विभक्त होता है। जिसका फल आरब्ध हुआ है, वह प्रारब्ध है, जो वर्तमान जन्म में कृत हो रहा है वह क्रियमाण है एवं जिसका फल वर्तमान जन्म में आरब्ध नहीं हुआ है वह संचित है।

कर्म संस्कार

—प्रत्येक कर्म की अनुभूति का छाप अन्तःकरण की धारिणी शक्ति के द्वारा विधृत हो कर रहती है। कर्म का इस आहित अवस्था का नाम संस्कार है। मान लो कि किसी ने एक वृक्ष देखा, पीछे आंख मूंदकर वह उस वृक्ष की चिन्ता करने लगा। इससे सिद्ध होता है कि वृक्ष देखने के बाद अन्तःकरण में उस वृक्ष का अनुभव भाव धृत होकर रहता है। इत्यादि चेष्टा का भी उसी प्रकार आहित भाव रहता है। साधारणतः कर्म का संस्कार भी कर्म नाम से अभिहित होता है।

—पातञ्जल योगदर्शनम्

पुराकाल में—

शिक्षा-संस्कृति का स्वरूप

श्री डा० हरिशंकर शर्मा

नियमित आचार-विचार धर्म्म-पालन था
थे जीवन त्याग-प्रधान, तपस्वी मन था
शिक्षा तन, मन, आत्मा की उन्नायक थी
मानवता का आधार : ज्ञानदायक थी

× × ×

तन पुष्ट और मन शुद्ध-पवित्र बनाना
आत्मा में भक्ति-शक्ति की ज्योति जगाना
सद् शिक्षा का आदर्श यही माना था
मानवता का उत्कर्ष यहीं जाना था

× × ×

जो जीवन में सद्भाव सदा भरती थी
जो ज्ञान-दान दे शुद्ध-बुद्ध करती थी
जो मुक्ति-धाम का द्वार दिखा देती थी
जो प्राणिमात्र से प्रेम सिखा देती थी

× × ×

जिस में कटुता का लेश नहीं रहता था
अनुदार भाव का पाप नहीं रहता था
वह सद् शिक्षा कल्याण-कर्म्म-साधक थी
निष्काम कर्म्म-प्रेरक, प्रभु-आराधक थी

× × ×

जीवन से शिक्षा भिन्न न हो पाती थी
वह जीवन में पवित्रता उमगाती थी
जो शिक्षा से जीवन को बिलगाता था
वह साक्षर था, शिक्षित न कहा जाता था

× × ×

विद्यालय थे आदर्श, सत्त्वगुण-साधक
आचार्य, तपस्वी, व्रती, सत्य-आराधक
इन संस्थाओं में शिक्षा जो पाते थे
वे देश-जाति के सेवक बन जाते थे

गुरुकुल-जीवन समता का संचारक था
विषययुक्त विषमता का संहारक था
सब त्याग-तपस्यापूर्ण सुलभ शिक्षण था
'मानवता का निर्माण' पुण्य-मय प्रण था

× × ×

शिशु शिक्षा गर्भ-काल ही में पाता था
हो शुद्ध-बुद्ध वह धरणी पर आता था
संस्कृति की ज्योति अनन्त सत्य-बल अक्षय
थी माता-पिता की गोद विश्व-विद्यालय

× × ×

यों तो शिक्षक, विद्यालय थे घर-घर में
थे किन्तु 'विश्व-विद्यालय' भारत-भर में
सारा संसार यहीं शिक्षा पाता था
हो शिक्षित भारत का गौरव गाता था

× × ×

अनिवार्य्य और निःशुल्क राष्ट्र-शिक्षा थी
सब थे तितिक्षु व्यवसाय न तब भिक्षा थी
थे हृष्ट-पुष्ट आदर्श और नर-नारी
आचारवान, कर्मठ, विवेक-बल धारी

× × ×

प्रत्येक ग्राम में विद्यालय होता था
शिक्षा दे वह अज्ञान-तिमिर खोता था
सब जनता के सुख-दुख अनुभव करते थे
शुचिता, समता, सद्भाव, स्नेह भरते थे

× × ×

पुत्री-पुत्रों के गुरुकुल पृथक-पृथक थे
जिनमें कर्मठ आचार्य सुधीन्द्र सतत थे
दोनों संस्थाओं की सीमा निश्चित थी
दूषित सह-शिक्षण की न प्रथा प्रचलित थी

प्रारम्भिक शिक्षा शिशु ग्रामों में पाते
फिर गुरुकुलादि में वे प्रविष्ट हो जाते
अपराध निरक्षरता को तब माना था
विद्या-विलास ही जीवन-व्रत जाना था

× × ×

जब आठ वर्ष का बालक हो जाता था
उपनयन धार सीधा गुरुकुल जाता था
राजा या रंक-कुमार साथ पढ़ते थे
पढ़-पढ़ कर वे गौरव-गिरि पर चढ़ते थे

× × ×

बालक निज कुल से गुरुकुल में जाते थे
तो माता-पिता स्नेह से समझाते थे
देकर उत्तम उपदेश विदा करते थे
कोमल हृदयों में उच्च भाव भरते थे

× × ×

ब्रह्मचारी भिक्षा स्वयम् मांग लाते थे
बहुधा वे कन्द-मूल-फल ही खाते थे
गुरुजन भी भिक्षा पर निर्भर रहते थे
शिष्यों के हित वे विविध कष्ट सहते थे

× × ×

तन पर केवल दो वस्त्र वस्त्र दृष्टि आते थे
जो 'उत्तरीय' या 'अधर' कहे जाते थे
कटि के ऊपर तो 'उत्तरीय' ढकता था
नीचे का अंग 'अधर' पट में छिपता था

× × ×

अति सूक्ष्म रूप से ज्ञान दिया जाता था
फिर विविध भांति विस्तार किया जाता था
भाषा साधन थी, साध्य शुद्ध शिक्षा थी
उद्देश्य तितिक्षा, सदाचार-रक्षा थी

शिक्षा के सारे अंग पढ़ाये जाते
साहित्य, कला, संगीत सिखाये जाते
सहृदयता, सुचिता का विकास होता था
सद् ज्ञान ज्योति का प्रिय प्रकाश होता था

× × ×

शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द पढ़ते थे
षड् ज्योतिष, कल्प, ज्ञान-गिरि पर चढ़ते थे
गन्धर्व शास्त्र, रण-धनुर्वेद प्रचलित था
तब शिल्प, चिकित्सा-ज्ञान, नित्य नियमित था

× × ×

गुरु रेखा, अंक, बीज, ज्यामिति सिखलाते
दर्शन, इतिहास, अर्थ, विज्ञान बताते
भूगोल, छन्द, संगीत, वेद पढ़ते थे
हो पारंगत उन्नति-पथ पर बढ़ते थे

× × ×

व्यापार, वणिज, कृषि, उद्यम सिखाते थे
व्यवहार-ज्ञान की बातें बतलाते थे
नैतिक शिक्षा ने सदाचार अपनाया
नागरिक शास्त्र का सुन्दर पाठ पढ़ाया

× × ×

भूगोल-खगोल-विज्ञ, विज्ञान-विधाता
ग्रह-नक्षत्रों की गति-गरिमा के ज्ञाता
जग को गुरुत्व-आकर्षण तत्व बताया
ज्योतिष का गूढ़ मर्म सबको समझाया

× × ×

योग्यता न अंकों से आंकी जाती थी
कुछ घंटों में ही जांच न हो पाती थी
केवल 'रटन्त' शिक्षा-आदर्श नहीं था
निष्क्रिय विवेक जीवन-उत्कर्ष नहीं था

—क्रमशः

साधक से अकारण विरोध का फल

श्री केशव उपाध्याय

अपने आराध्य, देवाधिदेव श्री सद्गुरुदेव तथा अपने दादा गुरुदेव परम योग योगेश्वर, सिद्धेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज के चरणों में कोटिशः प्रणाम के बाद प्रस्तुत लेख में एक ऐसी घटना का वर्णन किया गया है, जिसमें प्रभु प्रेम के दीवाने एक साधक के साथ किये गये अकारण विरोध का कुफल प्रदर्शित है। घटना वर्षों पूर्व की है। और फैजाबाद जिले के अयोध्या स्थान से सम्बन्धित है, जो मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम की जन्मभूमि कही जाती है।

एक अध्यात्म प्रेमी साधक था, जिसके आराध्यदेव मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम थे। यह साधारण गृहस्थ-परिवार का था। घर में भगवान श्रीराम का स्वरूप रख कर दोनों समय आरती पूजन किया करता था। उसका पूरा परिवार आरती-पूजन कार्यक्रम में बड़े ही उत्साह से भाग लेता था। साधक दिन में गृहस्थ सम्बन्धी कार्य करते हुए राम-नाम मंत्र का जप किया करता था, तथा भगवान श्री राम की जीवन लीलाओं से सम्बन्धित अलौकिक चरित्रों का मन में बराबर चिन्तन किया करता था। उसका मन प्रायः भगवान श्रीराम का स्वरूप में ही समाया रहता था। कुछ वर्षों तक इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के पश्चात ईश्वर कृपा से उसके अन्दर वैराग्य भाव का उदय हो गया। अपना घर बार छोड़कर भगवान श्री राम के प्रेम में मस्त यह अपनी अगली साधना हेतु अयोध्या आ गया और अयोध्या नगर से बाहर एक झोंपड़ी बनाकर रहने लगा। नित्य सरयू नदी में स्नान करता, दिन भर अयोध्या के विभिन्न देवालयों में जाकर भगवान श्री राम के विग्रहों का दर्शन करता प्रेम से किसी ने कुछ दे दिया तो ग्रहण कर लिया नहीं तो किसी से कुछ मांगता भी नहीं था। दिन भर इस प्रकार घूमते घामते सांयकाल अपनी झोंपड़ी में आकर विश्राम करता और भगवान श्रीराम के नाम का मंत्र जाप किया करता था।

एक दिन प्रातःकाल नित्य क्रिया से निवृत्त होकर इस साधक ने सरयू नदी में स्नान किया। इसके पश्चात नित्य की तरह अयोध्या की सड़कों एवं गलियों में स्थित देवालयों में जा जाकर भगवान श्री राम के विग्रहों का दर्शन करना आरम्भ किया। जब यह साधक एक सड़क में राम प्रेम की मस्ती में विचरण कर रहा था तो इसके विपरीत दिशा से एक सुसज्जित एवं शृंगार तथा अलंकारों से युक्त महिला (वेश्या) करीब दस-बारह मनचले अप टू डेट युवकों के साथ आ

रही थी। यह मतवाला साधक भी प्रायः सड़क के मध्य से ही चल रहा था क्योंकि सड़क ज्यादा चौड़ी नहीं थी। इसने देखा सामने वेश्या एवं उसके साथी भी सड़क के मध्य से चले आ रहे हैं। अब दोनों का आमना-सामना हुआ तो वही हुआ जो नहीं होना चाहिये था। साधक मस्ती में अपनी बांह घुमाते हुए चल रहा था तो उसका हाथ वेश्या के किसी अङ्ग से जा टकराया जिससे मामूली चोट आ गई। वेश्या अपनी कोमलता प्रदर्शित करने के लिये जान-बूझकर तपाक से सड़क पर गिर गयी और कराहने लगी। दस-बारह युवक जो उसके पीछे चल रहे थे वे सभी साधक को प्रताड़ित करने लगे। साधक से इतनी छटका-पटकी की कि वह नीचे सड़क पर गिर पड़ा। उसके नीचे गिरने के बाद वेश्या-टोली फिर अपने गन्तव्य स्थान की ओर चल दी। साधक भी उठा और हाथ-पैर और शरीर की धूल साफ करके अपने मार्ग पर आगे बढ़ गया। वास्तविकता यह थी कि साधक अपने इष्ट-प्रेम में इतना दीवाना था कि उसे कुछ होने के बाद भी यह भान ही नहीं हुआ कि मुझे किस गलती के कारण प्रताड़ित किया गया है? बांह हिलाकर चलने से वेश्या को चोट लगी है, यह बात उसके अनुभव में नहीं थी। उधर वेश्या और उसके हमराहियों के मन में यह विचार था कि बाईजी के साथ की गई छेड़खानी का प्रतिफल उस आदमी को खूब अच्छी प्रकार से अदा कर दिया गया है। भविष्य में यह अब किसी महिला के साथ छेड़खानी करने की हिम्मत ही नहीं करेगा। साधक जी सोच रहे थे कि पता नहीं क्यों—इन लोगों ने इतनी गाली-गलौज दी तथा मारा पीटा! कहीं मुझसे कोई भूल तो नहीं हो गई थी! वे सब अकारण ही मुझे इतना कष्ट दे गये। वेश्या एवं उसके समुदायको अपने कुकृत्य पर गर्व हो रहा था। उधर साधक के मन में इस कुकृत्य के पीछे इन सब की विवेक-शून्यता ही समझ में आ रही थी।

करीब एक मील की दूरी तय करने के पश्चात् ही वेश्या एवं उसके साथी अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये। वहां पहुँचने पर वेश्या ने ज्योंही गाना आरम्भ किया त्योंही बेहोश होकर स्टेज पर गिर पड़ी। उसके प्रेमियोंने उसे तत्काल उठाया, उसे होश में लाने का प्रयत्न किया परन्तु वे अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सके। तुरन्त ही डाक्टर बुलाया गया, डाक्टर ने इलाज किया और वेश्या कुछ मिनटों के लिये ही होश में आयी। होश में आने पर उसने अपने साथियों से कहा—'मेरे शरीर में इतनी पीड़ा है कि मैं अब ज्यादा समय तक जीवित नहीं रह सकती। डाक्टर की दवा से भी मुझे कोई लाभ नहीं हो रहा है। यदि आप लोग मुझे ठीक करना चाहते हो तो एक बात मैं बतलाती हूँ, आप सभी उसे ध्यानसे सुनें।'

'मैंने स्वप्न में देखा है कि कोई यह कह रहा है कि तुम्हारा यह कष्ट तभी दूर होगा, जब वह साधक महात्मा, जिसे तुम लोगों ने प्रताड़ित किया था तुम्हें क्षमा कर दे। अन्यथा इसी कष्ट से तेरा शरीरान्त हो जायेगा। अब तुम सब लोग तत्काल यहाँ से जाओ और वे महात्मा जहाँ कहीं भी मिलें उनसे प्रार्थना करके उन्हें ले आओ। शायद मैं बच जाऊँ।' इतना कहकर वेश्या फिर बेहोश हो गयी। वेश्या के प्रेम में दीवाने तत्काल महात्मा की खोज में निकल गये। करीब तीन घण्टे की लगातार खोज के बाद वेश्या के एक प्रेमी को महात्मा जी मिल ही गये। उसने साधक महात्मा जी को पहचान कर साष्टांग प्रणाम किया। महात्मा ने उसे आशीर्वाद दे दिया। आगन्तुक ने फिर भी बार-बार प्रणाम किया। महात्मा जी ने पूछा कि अरे भाई! क्या बात है? उसने बताया कि महात्मा जी पहले आप यह वचन दें कि हमारी प्रार्थना आप स्वीकार करने की कृपा करेंगे, तब हम अपनी प्रार्थना सुनायेंगे। महात्मा ने कहा कि ठीक है भाई, यदि तुम्हारा कार्य हमसे होने लायक होगा तो हम अवश्य करने का प्रयास करेंगे। महात्मा के इतना कहने पर आगन्तुक ने तथ्य को छिपाते हुए उनसे प्रार्थना की कि एक महिला की तबियत अत्यन्त खराब है, मुझे ऐसी उम्मीद है कि यदि आप की कृपा हो जायेगी तो वह अवश्य ही ठीक हो जायेगी। महात्मा ने कहा कि सुनो भाई, हम कुछ दवा नहीं जानते हैं पर आगन्तुक के बार-बार विनती करने पर वे राजी हो गये महात्मा उसके साथ (करीब एक घण्टे) चल-कर वहां जा पहुँचे जहां वेश्या बेहोश पड़ी थी। वहां पहुँच कर महात्मा जी सङ्कट में पड़ गये। वहां वे सभी लोग उपस्थित थे जिन लोगों ने सड़क पर कुछ घण्टे पूर्व जम-कर उनकी पिटाई की थी। वे सोचने लगे कि क्या इस महिला का शरीरान्त हो गया है और ये सब हमको यहां जान से मारने के लिये तो यहां नहीं लाये हैं। परन्तु महात्मा जी के वहां पहुँचने पर सभी लोग खड़े हो गये एवं सभी लोगों ने प्रणाम किया तथा महात्मा जी को सादर आसन पर बिठाया। महात्मा जी के आसन पर बैठने के पश्चात् सभी लोग हाथ जोड़कर खड़े हो गये एवं प्रार्थना करने लगे कि महात्मन् आप हम लोगों की गलती को क्षमा करें। हम लोग पापी हैं, हम लोगों ने बड़े ही अनर्थ एवं पाप का कार्य किया है। आप से बार-बार प्रार्थना है कि आप हम लोगों की गलतियों को क्षमा करें। महात्मा जी ने कहा, आप लोगों ने कोई गलती की नहीं है, क्षमा की क्या बात है, वह तो एक घटना थी, जो होना था, वह हुआ। आप लोगों को पश्चा-त्ताप करने की आवश्यकता ही नहीं है।

उनके इतना कहने पर उन सभी ने आगे प्रार्थना की कि इस बाई जी के प्रेम में आकर हम लोगों ने आपको अपमानित किया था, अब ये बेहोश हो गई है और इन्होंने स्वप्न देखा है कि जब आप कृपा करेंगे तभी यह ठीक होगी। महात्मा जी ने कहा कि इस महिला के प्रति मेरे मन में तनिक भी रोष नहीं है। यह ठीक हो जाय, इस कार्य में मैं भी प्रसन्न हूं। महिला उनके इतना कहते ही तत्काल होश में आ गई एवं पूर्ण रूपेण ठीक हो गयी। होश में आने पर उसने महात्माजी को तत्काल साष्टांग प्रणाम किया। अपना कार्य करके जब महात्मा जी वहां से चलने लगे तो उनमें से एक आदमी ने प्रार्थना की कि महात्मन्, आपने तो कुछ किया नहीं, तो यह बाई जी इतने घोर कष्ट में क्यों पड़ गई, इसका रहस्य समझाने की आप कृपा करें। महात्मा साधक ने जो उपदेश दिया वह इस प्रकार है :

महात्मा जी ने कहा कि देखो भाई! तुम लोग इस महिला से प्रेम करते हो। तुम्हारी समझ से इस महिला को जब हमारे द्वारा कष्ट दिया गया तो तुमसे यह सहन नहीं हो सका। इसका कारण मात्र यही था कि तुम लोग इसके चाहने वाले हो। आखिर हमारा भी तो कोई चाहने वाला है। जब तुम लोगों ने हमारे शरीर को कष्ट दिया तो हमको चाहने वाले से सहन नहीं हो पाया। तुम लोगों ने अपना कार्य स्थूल रूप में किया हमारा चाहने वाला सर्व समर्थ है, अतः उसने अपना कार्य सूक्ष्म रूप से कर दिया। इस घटना के पीछे मुख्य तथ्य यही है। तुम लोगों के द्वारा उसने हमें जो मान सम्मान दिलाया है, यह तुम्हारे अभिमान पर करारी चोट है। इतना कहकर महात्मा वहां से चलते बने और अपने निवास-स्थान पर आ गये। यह घटना तो यहीं समाप्त हो गयी। इस प्रकार के एक दो नहीं बल्कि सैंकड़ों, हजारों उदाहरण आपको अपने सिद्धयोग दरबार में मिल जायेंगे और यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रभु के प्यारे बच्चों के साथ अकारण किये गये विरोध का क्या परिणाम होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्रभु का प्यारा कैसे बना जा सकता है। अपनी समझ में तो बस एक ही बात आती है कि गुरुदेव भगवान की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करने वाला व्यक्ति गुरुदेव का लाड़ला बन जाता है। परन्तु यह कोई आसान कार्य नहीं है। सद्गुरु की आज्ञाओं का पालन करना महानतम कठिन कार्य है। जब वे अपने किसी शिष्य को कोई आज्ञा प्रदान करते हैं तो उस (वर्तमान) समय में वह आज्ञा शिष्य को बिल्कुल अटपटी सी जान पड़ती है। शिष्य को प्रत्यक्ष में उस आज्ञा पालन में कोई लाभ दिखलायी ही नहीं देता, वरन् कभी-कभी तो उसे ऐसा लगता है कि यदि मैंने गुरुदेव की आज्ञा का

पालन किया तो मेरा अमुक नुकसान हो ही जावेगा। और ज्योंही उसके मन में ऐसा विचार आता है, वह गुरुदेव की आज्ञाओं का पालन बन्द कर देता है। यह स्थिति साधक की प्रगति में बाधक है। गुरुदेव भगवान की आज्ञायें साधकों (शिष्यों) को अटपटी क्यों लगती हैं, इसमें भी एक रहस्य है और वह यह है कि गुरुदेव भगवान तत्वदर्शी हैं और हमारा मन प्रत्यक्षदर्शी है। हमारा मन प्रत्यक्ष लाभ में प्रसन्न होता है जबकि गुरुदेव भगवान केवल मात्र शिष्य के आध्यात्मिक लाभ से ही प्रसन्न होते हैं। उनकी प्रत्येक आज्ञा किसी न किसी रूप में शिष्य की आध्यात्मिक प्रगति का ही एक अंश या कारण होती है। अतः हम सभी शिष्यों को उनकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करने का प्रयत्न करना चाहिये, इसी में हम सभी लोगों का परम कल्याण छिपा हुआ है।

एक बात और वह यह है कि आराध्यदेव योग-प्रचार कार्यक्रमों में अपने मुखारविन्द से उपदेशित किया करते हैं कि नित्य प्रातः कम से कम दो घण्टे मन्त्र जप तथा एक घण्टे ध्यान किया करो। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी में आदेश दिया है कि तुम्हारा यह तीन घण्टे का समय व्यर्थ नहीं जावेगा। कुछ महीनों की लगातार साधना के बाद तुम्हें स्वयं भान हो जावेगा कि तीन घण्टे नित्य सांसारिक कार्यों में लगाकर तुम जितना लाभ कर सकते थे, उससे कहीं ज्यादे ही लाभ श्री प्रभुजी ने तुम्हें प्रदान किया है। इस सन्दर्भ में वे एक अर्धाली उपदेशित किये:—

भगत चाकरी देत है,
क्यों राखै भगवान।

अर्थात् यदि संसार में तुम्हें समय का पारिश्रमिक मिल जाता है तो वे सर्व समर्थ तुम्हारा पारिश्रमिक अवश्य ही अदा करेंगे। अन्त में लेख को यहीं विश्राम देते हुये श्री चरणों में प्रार्थना है कि आज्ञा पालन करने की शक्ति प्रदान करने की कृपा की जाय, जिससे हम सब प्रभुजी के लाड़ले बन सकें।

—वैराग्य सिखाया नहीं जाता वह तो हृदय भूमि से अपने आप अवसर और समय पाकर अपने आप अंकुरित होता है।

—प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

× × × ×

शोचिय गृही जो मोहवश, करै कर्म पथ त्याग।
शोचिय यती प्रपञ्चरत, विगत विवेक विराग॥
शार्दूल को स्वांग करि, कूकर की करतूत।
तुलसी तापर चाहिए, कीरति विजय विभूति॥
तुलसी कर पर कर करो, कर तर कर न करो।
जा दिन कर तर कर करो, ता दिन मरण करो॥

—गोस्वामी तुलसीदास

वर्तमान की चिन्ता करो

श्री शिवा भावे

सांसारिक सुख-दुःख में फंसे हुए सामान्य मनुष्य को सृष्टि की यह क्षणिकता मालूम नहीं होती। क्योंकि सृष्टि को स्थिर समझकर वह जीवन व्यतीत करता है। भक्त लोग सृष्टि के वास्तविक स्वरूप को समझते हैं और उसके अनुसार अपना आचरण करते हैं। सामान्य जन भी सृष्टि की वास्तविकता को बिल्कुल नहीं समझते हों सो बात नहीं, लेकिन उसके अनुसार जीवन बिताना उनसे सधता नहीं।

सृष्टि का स्वरूप यह है कि आज का आज और कल का कल। यानी सृष्टि का जो स्वरूप आज दिखाई देता है वह आज भर के लिए है, कल वह नहीं रहने वाला है। कल नया रूप होगा। यही सृष्टि की नित्य परिवर्तनशीलता है। हमारा शरीर जो बाल्यावस्था में था वह युवावस्था में नहीं रहता, प्रौढ़ावस्था का शरीर वृद्धावस्था में नहीं। नित्य नूतनता सृष्टि का स्वरूप है। सृष्टि सदा ताजा रहती है। इसलिए यह सृष्टि का कौतुक है, सृष्टि का वैभव है। यही कारण है कि सृष्टि के पदार्थों के सम्बन्ध में कभी किसी को अरुचि, नफरत, तृप्ति या ऊब नहीं होती। सूखे के बाद हरियाली, हरियाली के बाद सूखा, गर्मी के बाद वर्षा, वर्षा के बाद ठण्ड, ठण्ड के बाद गर्मी। यह चक्र निरन्तर चलता रहता है।

सृष्टि में यह ऐसी विचित्रता है कि किसी एक स्थिति के बारे में आसक्ति रखने का मौका ही नहीं मिलता। इस स्वरूप को हम जानते नहीं, समझते नहीं, जीवन के आचरण में इस बात का हमें ध्यान रहता नहीं, यही सबसे बड़ी बाधा है।

सृष्टि का स्वरूप अबबाध है, तो हमारे जीवन की रीति भी वैसी ही होनी चाहिए। आज जितने की आवश्यकता है, उतनी आज पूरी करें। जिस प्रकार कल-कारखानों में रोज उतना ही माल तैयार होता है जितना उस दिन के लिए निर्धारित होता है। सृष्टि में भी उपभोग्य वस्तुओं के निर्माण की यही दशा है। आज जितना चाहिए उतना ही आज उत्पादन होता है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन होता है तो मनुष्य परिग्रही और आलसी बनता है। अधिक धन संग्रह का लक्ष्य रखने वाले लोगों में त्याग की सम्भावना बहुत कम रहती है। उनकी आत्मा का विकास असम्भव है। इसलिए सृष्टि के स्वरूप के अनुसार मनुष्य को भी आज भर की व्यवस्था से संतुष्ट रहना चाहिए, ज्यादा संग्रह करने की बात सोचनी नहीं चाहिये। इसी में उसकी आत्मा का संरक्षण है।

कल की चिन्ता कल पर छोड़नी चाहिए। कल की चिन्ता आज करने लगें तो कभी चिन्ता-मुक्त नहीं हो पायेंगे। वर्तमान में भविष्य का बोझ लादे रहेंगे। वस्तुतः कल हमारे हाथ में नहीं है। कुछ हद तक हमारे हाथ में है तो वह वर्तमान ही है। कल तो पूरा-पूरा ईश्वर के हाथ में है।

अध्यात्म विद्या से युत–

राजयोग प्रणाली से शिवोहम्

❀ श्री जगदीश नारायण उपाध्याय

[पाठक इस बात पर ध्यान देवें कि—प्रस्तुत लेख हमारे पहले प्रकाशित किये गये पांच लेखों 'अन्तर यात्रा का शुभारम्भ साधन-आत्म समर्पण' से लेकर 'शिव तत्व की प्राप्ति व निर्बीज समाधि में प्रवेश'—तक के विश्लेषणात्मक अध्ययन पर, एवम् अन्तःप्रेरणाओं पर आधारित है।]

—लेखक

मानव मन ने अनुभव के आधार पर यह पहचाना है कि जो सत्य है, वही शिव है, जो शिव है वही सुन्दर है। इसी लिये वह हर एक अच्छी तथा प्रिय वस्तु को उसी रूप में देखना चाहता है कि सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का बोध हो। किन्तु सत्य तथा प्रिय के विषय में हर एक की भावना तथा धारणा अलग-अलग होती है। इसी लिये यह बात चरितार्थ नहीं हो पाती है। प्रश्न है, किस कारणवश यह बात क्रियान्वित नहीं हो पाती है, तथा किस गुण का उपयोग करके इसे क्रियान्वित किया जाय ?

इस संदर्भ में यदि हम सम्पूर्ण मानवतावादी दृष्टि कोण से, भारतीय योग-दर्शन एवं श्री मद्भागवत गीता के अनुसार इसके व्यवहार में न आने के कारणों पर यथार्थ रूप से चिन्तन करके देखें तो—हमारे इसी देह में शरीर के भीतर, सूक्ष्म चैतन्य युत अन्तः प्रकृति के सूक्ष्मतर आकाश में स्थित, अति सूक्ष्म प्राण को स्पन्दन करने पर जाग्रत होने वाली—इसी तरह स्थूल लिंग युत बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म तम् ....। आकाश में स्थित, अति सूक्ष्म प्राण को निरोध करने पर धारण करने योग्य बन जाने वाली, अव्यक्त रूप से—व्यक्त रूप से, अन्तर निहित—अप्रकाशित, लघुतम से लघुमहत्तम् से महत् तन्मात्राओं के रूप में फैली, विद्या-गुण की भावना के साथ संलग्न होने से सत्य पर आधारित ज्ञान को,—इसी तरह शरीर के भीतर अहंकार से रहित व विद्यागुण की दृढ़ धारणा के साथ संश्लिष्ट होने से प्रेम पर आधारित विज्ञान को, जोड़ने वाली, भारतीय ऋषिगण को पहले से ही ज्ञात, योग-दर्शन एवं वेदान्त दर्शन पर आधारित, 'भाव प्रकाश' एवं 'शब्द प्रकाश' जैसे आध्यात्मिक तत्वों से युत गुणवत्ता युत वाला विद्या 'आध्यात्मिक विद्या' का भूल जाना, और उसका ज्ञान न प्राप्त करना ही, इसके व्यवहार में न आने का एक मात्र मूल कारण जान पड़ता है।

अतः इसी आध्यात्मिक विद्या के भूल जाने के कारण, और इसका ज्ञान न प्राप्त करने के कारण ही, सर्व साधारण लोगों के अलावा, प्रश्न कर्ता जैसे—अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' परिणामतापसंस्कार विवेक सत्य दुःख से

दुःखी धाय करके योग भ्रष्ट, सविकल शील विदुषी भावुक साधक ! जिनके भीतर, अनेक जन्मों के संस्कारों के प्रतिफल स्वरूप स्मृति स्वरूप, इस जन्म में भी—कारण पुरुष के रूप में, यह आध्यात्मिक तत्व,—द्रष्टा जन्य संवेदनीया-भाव के साथ विद्यमान है, उसी प्रकार साथ ही साथ कार्य पुरुष के रूप में, यह आध्यात्मिक तत्व,—द्रष्टा कर्म संवेदनीया भाव के साथ विद्यमान है, उनका उन्हें पुनः 'उद्भाव' एवं 'उद्बोध' नहीं हो पाता है ।

इस अध्यात्म विद्या को नित्य क्रियाशील महा-शक्ति स्वरूप विधाता ने, जिसकी प्रेरणा से प्रलय—पयोधि में से नियमशः एक के बाद एक ब्रह्माण्ड का सृजन होता है उनका कुछ काल तक पालन होता है, और तत्पश्चात् वे पुनः विनष्ट कर दिये जाते हैं, 'सूर्याचन्द्र मसौधाता यथा पूर्वम् कल्पयत्' अर्थात् इस सूर्य और चन्द्रमा के समान इसे निर्मित किया गया है । इस विद्या को समस्त हिन्दू जाति ने अपने धर्म के रूप में 'अपौरुषेय' वेदों से प्राप्त किया है । उनकी धारणा है वेद अनादि अनन्त हैं । वेद का अर्थ है भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत—आध्यात्मिक तत्वों का संचित कोष । वे व्यक्ति जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण करते चले आये थे । आज मनुष्य जाति यदि इसे भूल भी जाय तो भी आध्यात्मिक तत्व भुलाये नहीं जा सकते । यह सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान के साथ मेल खाता है । और एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ, और प्रत्येक आत्मा का, परम पिता परमात्मा के साथ, क्या नैतिक तथा दिव्य आध्यात्मिक सम्बन्ध है, इसका उसको भान कराने वाला है । यह विद्या हमारे पता लगाने से पहले भी थी यदि हम इसे भूल भी जाय तब भी बनी रहेगी ।

आध्यात्मिक तत्वों के रूप में छिपी रहने वाली यह विद्या, यदि मनुष्यों द्वारा सम्भव न होता, तो मानव प्रकृति पर लोगों को तिल मात्र भी श्रद्धा नहीं रहती । तथा ऊपर लिखे विचारणीय विषय की तरह लोगों के अन्तः प्रकृति व बाह्य प्रकृति में मनुष्यों तथा परमात्मा के प्रति प्रेम और सद्भाव का यह भाव न उत्पन्न हो पाता । यह विद्या समस्त प्राणियों को खासकर मानव जाति को, जन्म मृत्यु, सुख-दुःख, रोग-शोक, परिताप-बन्धन जैसे शारीरिक कष्टों से, तथा परिणाम, ताप, संस्कार जैसे मानसिक कष्टों से मुक्ति दिलाने वाली है । इस विद्या के न जानने के कारण ही, आजकल समस्त संसार में विशेषतर लोगों के भीतरमय, अशान्ति, हिंसा व असमानता का भाव व्याप्त है । जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को तथा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को सशंकित दृष्टि से देख रहा है । वर्तमान समय में इसी

विद्या को न जानने के कारण, पाश्चात्य देशों में प्रचलित पूंजीवादी व्यवस्था व मार्क्स-वादी व्यवस्था को मानने वाले लोग, जो यांत्रिकता और तकनीक की सर्वशक्तिमत्ता और भौतिकवादी प्रवृत्ति पर विश्वास करते हैं, मानव होकर भौतिक शक्ति व अर्थ की पूजा करने लगे हैं, और स्वयं को देवत्व का अधिकारी मान बैठे हैं। उन्हें इस बात का पता नहीं, भौतिकवादी प्रवृत्ति जिसकी हम आज पूजा कर रहे हैं, वही एक दिन आपसी प्रतिद्वन्दता तथा विनाश का कारण बन जायेगी। आज का शीत-युद्ध किसी विशेष देश के साथ नहीं है, मानव आत्मा पर अधिकार करने वाले दो इच्छुकों के बीच का संघर्ष है। इसका हल तो तभी निकाला जा सकता है, जब हम लोग इन सारे विवादों से दूर, वर्ण, जाति, राष्ट्र, धर्म, जैसी विभेद बुद्धि से अलग रहने वाली, प्रत्येक मानव प्राणियों के भीतर आध्यात्मिक तत्वों के रूप में विद्यमान, ज्ञान के ठोसपन व विज्ञान की एकता के समन्वय पर आधारित, आत्मा और परमात्मा से ऊँची उठी हुई, पर वहीं परमात्मा के आध्यात्मिक मूल्यों पर निश्चित इस आध्यात्म विद्या का जब हम ज्ञान प्राप्त करें। वर्तमान समय में भौतिकवाद के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण इस विद्या का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक भी है। इसके इन्हीं गुणों से ही आकृष्ट होकर इसके क्रिया-त्मक ज्ञान के बारे में पूर्ण परिचित पातंजल व वशिष्ठ जैसे महर्षियों ने, इससे सम्बन्धित, ज्ञान-विज्ञान को जोड़कर ब्रह्म सत्ता का ज्ञान कराने वाली—"प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम् वा प्राणस्य" जैसी तथा—

अध्यात्म विद्याधिगमः
साधु सङ्गम एव च।
वासना सम्परित्यागः प्राण
स्पन्दन निरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः
सन्ति चित्त जये किल।

जैसी राजयोग की वैज्ञानिक क्रिया से युक्त प्रणाली दी है।

इसके इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर इस विद्या को प्रमाण तथा प्रमेय, उपमा-उपमेय, के साथ सिद्ध करके, व्यवहार में ले आने के लिये इस विद्या से पूर्ण परिचित श्री व्यासजी महाराज एवं गौतम जैसे वेदान्त मनीषी व नैयायिक ने, सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति की सत्ता स्वीकार की है। और 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः' (१-१ पाद २१) के अनुसार ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति तीनों को अलग-अलग माना है। और आत्मा को पदार्थ व भावना या इच्छा के रूप में मन-लिंग दो भागों में विभक्त किया है। न्याय दर्शन में इन भावों की पुष्टि निम्न लिखित शब्दों द्वारा की गई है।

"सम्भोग प्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात"

—१/२/८

"प्रवृत्तिर्वाग बुद्धि शरीरारम्भ इति"

—१/१७

"ज्ञान लिगत्वा दात्मनो"

—२/२३

वास्तव में देखा जाय तो आत्मा का लक्षण ज्ञान है। परन्तु यहाँ पर परमात्मा और मन के सम्बन्ध के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पन्न होना असम्भव है। चेतना तथा आत्मा एक ही वस्तु है। इसके द्वारा हमें उस परमात्मा 'शिव' का बोध शरीर के भीतर बैठी आत्मा से होता है। शंकराचार्य का भी यही मत है। 'ब्रह्म निर्विकल्प है।' इसके अलावा ऋगवेद भी यही कहता है :—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन-
श्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

—ऋ० मण्डल सूक्त १६४ मंत्र २०

दो पक्षी एक जैसे अनादि काल से साथ के लिये, संसार वृक्ष पर रहते हैं, एक जीव उनके फलों को भोगता है। दूसरा ब्रह्म सदैव साक्षी रहता है। भोक्ता नहीं। तीनों तत्व अनादि पृथक-पृथक हैं। जीव आनन्दमय नहीं है चूँकि आनन्द की कामना इच्छा से होती है। इच्छा उसी वस्तु की होती है जो अप्राप्य है।

"कामाच्चानुमानापेक्षा"

—१/१८

केवल ब्रह्म ही आनन्दमय है। किन्तु जीव ब्रह्म से उसी प्रकार भिन्न नहीं जिस प्रकार चोंच से मुर्गा। यह जीव-आत्मा मन के अनुसार होता है। जैसी मन की वृत्ति होती है, वैसा जीव अपने को समझता है, जानता है। इस लिये ब्रह्म से प्रार्थना की जाती है कि वह हमारे बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करे, अर्थात् दुष्कर्मों से हटाकर शुभ कर्मों की ओर लगा दे तथा प्रकृति की ओर से हटाकर आत्मा की ओर लगाये।

विज्ञान की यथार्थता को देखते हुये आज के युग में ब्रह्म सत्ता को न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण तथा प्रमेय (उपमा उपमेय) के द्वारा सिद्ध किया जाना उचित भी है। क्योंकि ब्रह्म को इसी प्रमाण के साथ सिद्ध न किये जाने के कारण ही हेगल जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों ने 'ईश्वर सत्ता' को तो शरीर के भीतर स्वीकार किया है, परन्तु 'ब्रह्म सत्ता' को नहीं माना है।

सर्व साधारण लोगों को इस विद्या के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना प्रायः असंभव सा है। क्योंकि उनके भीतर पहले तो कारण और कार्य पुरुष के जानने के भाव ही उत्पन्न नहीं होते। दैव संयोग, यदि उत्पन्न भी होते हैं—तो उनके समझ में न आ सकने के कारण, उनकी बुद्धि इन्द्रियों से उत्पन्न अनुभूति को उस वस्तु का गुण मान लेती है। गुण का परिणाम नहीं

मानती। जैसे शब्द एवं रंग के विषय में हम उनको 'बाहरी चीजों का गुण' मान लेते हैं। हमको कोई छू ले तो जहाँ छू गया, हम समझते हैं कि वह अनुभव उसी स्थान का है। हम भूल जाते हैं कि स्पर्श होने के बाद मस्तिष्क को सूचना मिली उसका मन पर जो प्रभाव पड़ा, उसी की अनुभूति वह स्पर्श ज्ञान है, जो उस स्थान का अनुभव नहीं है। ऐसा ही भ्रम हमको शब्द-रूप-रंग आदि के बारे में होता है।

इसके अलावा कुछ लोग हैं जो पहले, कारण पुरुष और कार्य पुरुष दोनों का बोध कराने वाली, मन या भावना रूपी ज्ञान पर आधारित, अन्तःप्रकृति को सत्य न मानकर, केवल कार्य पुरुष का बोध कराने वाली धारणा या विचार रूपी विज्ञान पर निश्चित, बाह्य प्रकृति को सत्य मानकर चलते हैं। उनके लिये भी यह विद्या कठिन है। क्योंकि पहले सभी इन्द्रियों को वश में करना फिर, बुद्धि को वश में करना, और तब फिर, जाकर मन को वश में करना, आज के युग में साधारण बात नहीं है। इससे भी कठिन उनके लिये यह बात है, जो कि खास कर शरीर के भीतर रहने वाले परा विज्ञान को न मानकर, केवल आधुनिक विज्ञान(भौतिकी विज्ञान)या टेक्नालॉजी पर आधारित बाह्य विज्ञान को सत्य मानकर चलते हैं। यदि हम विचार करके देखें तो यौगिक साधना का मूल आधार धारणा है। इसी धारणा को पक्की करने को यह विद्या भावना या मन पर आधारित अन्तः प्रकृति को सत्य मानकर चलती है। क्योंकि आत्म-समर्पण भाव या अन्यान्य उपायों द्वारा मन को शान्त करके व अन्तरमुखी, बनाकर, धारणा को पक्का किया जा सकता है। अन्यथा धारणा पर आधारित बुद्धि या विचारों को रोकना बड़ा कठिन है, मुश्किल काम है। मन के रुक जाने पर भी विचार नहीं रुकते, उनका अनवरत रूप से आना-जाना जारी रहता है। इसीलिये दार्शनिकों ने कहा है—मन एक रंगशाला है जिसमें विचारों की रंग-बिरंगी तसवीरें नाचती रहती हैं। जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों की अरबों किरण एक साथ हमारी आँखों की पुतलियों पर पड़ती हैं, तुरन्त चक्षु-इन्द्रियों में गति उत्पन्न हो जाती ही है, और प्रकाश की ये किरणें पुतलियों में बैठकर देखने की शक्ति पैदा करती है। ऐसी ही गतिशीलता, ऐसी ही तरंग शब्दों से उत्पन्न ध्वनि से भी पैदा होती है। ध्वनि से उत्पन्न कम्पन की गति ४०,००० तरंग प्रति क्षण होती है। उसी कम्पन से कान की इन्द्रिय सुनने लगती है। ऐसी ही कम्पन, ऐसी ही तरंग हमारी इन्द्रियों को क्रियाशील बना कर—मन को प्रभावित करती रहती है इसी लिये मनुस्मृति में भी आया है 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो।' अतः इसी कारण वश सर्व साधारण के लिये यह विद्या ग्राह्य नहीं है।

प्रकृति आत्मा का विरोधी नहीं है। कुसंस्कार वश, भौतिकवादी प्रवृत्ति के कारण अज्ञानता रूपी अहंकार के वशीभूत हो जाने से उत्पन्न, बाह्य प्रकृति-इन्द्रिय अनुभूति व विचार जाल-बुद्धि पर निश्चित, 'अविद्या मूल' के भाव ही, प्रकृति से लगाव का एक मात्र कारण है। इसी अज्ञानता के कारण ही हमने अपने आपको इस शरीर की सीमा के भीतर आबद्ध करके अपने दुःख का रास्ता खोल रखा है। मस्तिष्क और इन्द्रियों की सकरी सीमाओं में बंधे रहना ही 'अविद्या' है। यह धारणा कि "मैं शरीर हूँ" एक कुसंस्कार मात्र है। यह कुसंस्कार ही हमें सुखी या दुःखी करता है। इसी अज्ञान से उत्पन्न इस कुसंस्कार से ही हम शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि अनुभव कर रहे हैं। जिसके कारण अस्मिता (अहंकार) राग, द्वेष, और अभिनिवेश (जीवन के प्रति ममता) जैसे क्लेश से ग्रसित हो जाते हैं। और परिणाम, ताप संस्कार जैसे विवेक जन्य दुःख को भोगते हैं। योग शास्त्र के मतानुसार आत्मा अविद्या के कारण ही प्रकृति के साथ संयुक्त हो गयी है। इसी लगाव के कारण ही हमें आध्यात्मिक सौख्य का संयोग नहीं बैठता। वैराग्य आनन्द का नहीं मोह का विरोधी है। प्रकृति की सीमाओं को न मानना हमारे लिये आवश्यक नहीं। हमारे शरीर ईश्वर के मन्दिर और 'धर्म साधन' है। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और भौतिक जीवन में कोई बैर नहीं। प्राचीन विचारकों ने अस्तित्व की महान शृंखला, ब्रह्मांड की मान्यता-प्राप्त रचना तथा जीवन और अस्तित्व के सभी स्तरों की पारस्परिक प्रक्रिया पर सदैव जोर दिया है। वास्तव में देखा जाय तो यह सारा आधिदैविक, आधिभौतिक, और आध्यात्मिक संसार एक परब्रह्म परमेश्वर से अलग कोई वस्तु नहीं है। ब्रह्म-शिव-ईश्वर शब्दों का अर्थ है उसे ही विशुद्ध चिन्मय परमात्मा समझिये। जैसे जल के आधार भूत समुद्र में जल ही तरंग रूप में प्रकट होती है, वैसे ही यह परमात्मा में केवल अद्वितीय तद्रूप ब्रह्म ही जगत के रूप में प्रकट हो रहा है। क्योंकि सारा यह दृश्य समूह मनोराज्य के संकल्प नगर की तरह ही भासता है। कारण का अभाव होने से कुछ भी कर्ता नहीं है। अतः कर्ता के अभाव से जगत का अभाव है और जगत के अभाव से पदार्थ का अभाव है इसीसे अहंता आदि सत्ता नहीं है। अहं भावना ही दुःखमय संसार के वृक्ष का मुख्य बीज है। उस अहं भावना के समान ही 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि भी उस वृक्ष का आदि कारण है। क्योंकि वही रागादि रूपिणी अहं भावना पहले बीज रूपिणी अहं भावना होती है। फिर वृक्ष रूपिणी मम अहं भावना होती है। तत्पश्चात् शाखा रूपिणी, इच्छा (राग) की प्रवृत्ति होती है। यह इच्छा ही सर्व पदार्थ के रूप में सैकड़ों अनर्थों को उत्पन्न करने वाली

तथा संसार भ्रम का धारण पोषण करने वाली है। इच्छा से उत्पन्न अविद्या रूपी अहं भावना के कारण ही हम सत्य स्वरूप आध्यात्मिक विद्या को धारण नहीं कर पाते और अपने आप को सदैव के लिये जन्म मृत्यु के बन्धन से छुटकारा नहीं दिला पाते।

सचमुच में देखा जाय तो सम्पूर्ण मानव जाति को जन्म मृत्यु के फेरे में डालने वाली तथा इस विषय को विवादास्पद बनाने वाली बात हमारे शरीर में स्थित अन्तः प्रकृति व उसके भीतर रहने वाली अन्तः बाह्य प्रकृति नहीं—बल्कि संकीर्ण अहं विचार धारा के कारण, बाह्य प्रकृति तथा माया प्रपंचों से उत्पन्न गुण के रूप में हमारे भीतर रहने वाली, यही 'अविद्या' गुण ही है। कु संस्कारों पर निर्धारित इसी 'अविद्या' गुण को सत्य मान लेने के कारण ही, जन्म के समय सतोगुणी वृत्ति के रूप में रहने वाली हमारी पूर्ववर्ती प्रकृति या स्वभाव बदल गया है। इसी के कारण ही हमारी इस समय की अन्तः प्रकृति व बाह्य प्रकृति में दृष्टि विभेद उत्पन्न हो गया है। और हमारी आत्मा प्रकृति के साथ जुट गयी है। जिसके कारण ही हम अपने भीतर में स्थित बाह्य प्रकृति को शुद्ध बनाकर, अपना सम्बन्ध ब्रह्माण्ड सत्ता के भीतर आध्यात्मिक तत्व के रूप में रहने वाली सत्ता 'परब्रह्म परमात्मा शिव' से नहीं जोड़ पाते। वह 'पर-ब्रह्म परमात्मा के रूप में छिपी शिव-सत्ता ज्ञान-विज्ञान से युक्त भी है, और परे भी है। मानव प्राणियों को आत्मा-परमात्मा का ज्ञान कराने वाली है,' तथा एक आत्मा का सम्बन्ध दूसरी आत्मा से जोड़ने वाली भी है।

इसीलिये शास्त्रों में आता है 'प्रकृति स्वभावात् वर्तते' प्रकृति या स्वभाव हमेशा अपने पूर्ववर्ती प्रकृति या स्वभाव, सूक्ष्म चैतन्य युत अन्तः प्रकृति व स्थूल लिंग युत बाह्य प्रकृति के अनुसार आचरण करती है।

वर्तमान समय में प्रश्नकर्ता जैसे दृष्टा अन्य संवेदनीया भाव वाले, व दृष्टि कर्म संवेदनीया भाव वाले संवेदनशील भावुक साधक। जिनके अन्तः प्रकृति और उसी के भीतर रहने वाली बाह्य प्रकृतियें पूर्वजन्मों के संस्कार वश स्मृति स्वरूप अधिदैविक सत्ता-आधिभौतिक सत्ता के रूप में, कारण पुरुष का ज्ञान कराने वाली—कार्य पुरुष का ज्ञान कराने वाली "विद्यागुण के भाव के रूप में पदार्थ ज्ञान से युक्त 'भाव प्रकाश' ज्ञान जाग्रत नहीं हो पा रहा है। उसी प्रकार उसके साथ, उस के प्रकृति के रूप में जल के भीतर कंद-काई के समान अहंकार सहित अविद्या गुण' के भाव के रूप में दृढ़ इच्छा शक्ति ज्ञान से सम्पन्न 'शब्द प्रकाश' ज्ञान को नहीं किया जा सकता है। उसका भी एक मात्र कारण संकुचित विचारों पर आधारित इस बाह्य प्रकृति को सत्य मान लेना है। क्योंकि आप जानते हैं

कि प्रत्येक मानव प्रकृति के भीतर कारण और प्रक्रिया ज्ञान के रूप में भाव व संवेदना संकोच-विकोच या आकर्षण-विकर्षण-संश्लेषण विश्लेषण गुण के रूप में अव्यक्त-व्यक्त रूप में उठा करता है। शरीर इस बाह्य प्रकृति से उठने वाली संकोच-विकोच गुण से दूर, अन्तः प्रेरणाओं पर आधारित, ऊपर लिखी ध्यान-योग प्रणाली द्वारा,—अन्तः प्रकृति को पहले सत्य मानकर 'चित्त' के भीतर कम्पन उत्पन्न करके व रोका करके उसके भीतर रहने वाली बाह्य प्रकृति या 'वृत्ति' को निरोध गुण सम्पन्न बनाया जा सकता है। तथा मनोराज्य रूपी समुद्र की तलहटी से उठने वाली जल की लहरों की तरह, तथा उसी के भीतर रहने वाली बुद-बुद की तरह, तन्मात्राओं के रूप में 'भाव प्रकाश' को व 'शब्द प्रकाश' को, 'विद्या गुण' के रूप में ज्ञात किया जा सकता है, और 'अविद्या गुण' के रूप में प्रकाशित किया जा सकता है। बाद में चलकर ज्ञान विज्ञान से युक्त इन्हीं दोनों तत्वों को जोड़कर आध्यात्मिक तत्वों के रूप में रहने वाले, अपने इसी अन्त ब्रह्माण्ड में स्थित, 'शिव सत्ता' से अपना सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

आध्यात्मिक साधना का एक महत्व पूर्ण नियम यह भी है कि जिसे हम सत्य समझते हैं वह हमारे समग्र मन प्राण को अपनी ओर खींच लेता है। यदि हम संसार को ही एक मात्र सत्ता मानें, तो इसका हम पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा। यह मान्यता हमारे मन और इन्द्रियों को बहिर्मुखी बना देगी। लेकिन यदि हम अन्तर्जगत को सत्य मानें, तो अपने मन को अन्तर्मुखी करना हमारे लिये सरल हो जायेगा। अतः आवश्यक है कि हम सत्य के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा कर लें।

सत्य शाश्वत और अपरिवर्तनीय है। सत्य की अभिव्यक्ति किसी प्रकार से शब्दों से नहीं हो सकती, जब तक कि उसे हम अनुभव करके न देखें। अनुभूति ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें प्रयत्न करने पड़ेंगे। मुक्ति अपने आप नहीं मिल जाती, यह हमारे प्रयासों पर निर्भर है। कहा जाता है कि प्रयत्न करके हम मुक्ति नहीं पा सकते, यह तो परमात्मन् का स्वतन्त्र उपहार है और इसे समझ न पाना ही नरक है। भारतीय विचार के अनुसार प्रत्येक मानव-कर्तव्य ही मोक्ष प्राप्त करना है। कारण किसी दूरस्थ देवता की देन मात्र नहीं है। परब्रह्म परमात्मा सारी वस्तुओं के भीतर व्याप्त है, मानव की आत्मा में तो उसका सर्वत्र निवास है। उसका लघुतम से लघुमहत्तम से अधिक महत् यह अस्तित्व का सार तत्व प्रत्येक प्राणी के भीतर उपस्थित है। जिस तत्-त्वम् असि, परब्रह्म की हम यहां बात कर रहे हैं, उसका निवास तो सभी प्राणियों के भीतर है। वह परमात्मा हृदय की गहराइयों में प्रतिष्ठित है। "वह आदि सत्ता इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, अन्धकार से घिरी अज्ञात की गहराइयों में स्थित है, घाटियों में अवस्थित है,

प्राणियों के हृदय में निवास करती है।" जिस परब्रह्म की उपस्थिति की प्रतीति से व्यक्ति पवित्र हो जाता है।

परब्रह्म पुरुषोत्तम को पहचानना और उसके साथ एकाकार हो जाना मानव-मात्र का लक्ष्य है। मनुष्य जब चाहता है तब वह सत्य का स्वयं अनुभव करना चाहता है। और जब 'सङ्कल्पो वाव मनसो' वेद भावना के अनुसार अन्तः प्रकृति में सत्य की धारणा कर लेता है, तथा प्राण-प्रण से चेष्टा करके समाधि द्वारा उसका अनुभव कर लेता है तब उसके भीतर 'दिव्य गुण' के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, वेद कहते हैं, तभी उसके सारे सन्देह दूर होते हैं, सारा तमो बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाता है, सारी वक्रता सीधी हो जाती है—उदाहरणार्थ—

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छि-
द्यन्ते सर्वं संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
मुण्डक उप० २/२/८

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थु।
वेदाह मेतं पुरुष महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

'हे अमृत के पुत्रो, हे दिव्य धाम निवासियों, सुनो अज्ञानान्धकार से आलोक में जाने का रास्ता पा लिया है। जो समस्त तम के पार है, उनको जानने पर ही वहां जाया जा सकता है मुक्ति का और कोई दूसरा उपाय नहीं है।'

इसके अलावा विशिष्ट साधकों द्वारा यह बात क्रियात्मक अनुभव करके सिद्ध किया जा चुका है, तथा योग वाशिष्ठ के निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध के सर्ग ८-९ में आया है कि जब साधक! ऊपर लिखित आध्यात्म विद्या से युक्त राजयोग प्रणाली द्वारा, हमारे पहले लेख में प्रतीकों के माध्यम से आत्मसमर्पण करायी गई विधि से, या अन्तः प्रेरणाओं पर आधारित आत्मसमर्पण की अन्य विधि से, भाव योग के सहज ज्ञान समाधि द्वारा अपने मन को शान्त करके, अन्तरमुखी बना करके, वासना का क्षय करके, केवल सत्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्राण-प्रण से संकल्प करके, तथा वेद वर्णित भावना श्रुति के अनुसार—'प्रणव या ओंकार,' 'सोऽहं हंसः,' 'अहंब्रह्मास्मि' या 'तत् त्वम् असि' जैसे 'नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः' जैसे वाक्यों का अपने अन्तः प्रकृति या अन्तः मन की सीमा के भीतर ध्यान का अभ्यास करता है। उसी प्रकार उसी सत्य संकल्प के अनुसार अपने शरीर के ही अन्तः प्रकृति में स्थित बाह्य प्रकृति में उसके सीमा के भीतर आत्मा दर्शन के तृतीय अध्याय के ७४ व चतुर्थ अध्याय के ३, सूत्र "तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेक सिद्धिः" और "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्"

सूत्रों के अनुसार--उन्हीं वेद वर्णित वाक्यों का बार-बार श्रवण करता हुआ, अपने सद्-असद् विवेकनी विचारात्मक बुद्धि से अहङ्कार का नाश करके उन वाक्यों की 'धारणा' का बार-बार अभ्यास करता है। तथा इस अभ्यास के कुछ दिनों पश्चात् इसके परिणाम स्वरूप छान्दोग्य उप० ७/२४/१ 'यत्र नान्यत् पश्यति' के अनुसार, पूर्व जन्मों के संस्कार वश अपने भीतर सद्गुरु के रूप में अव्यक्त रूप से अन्तर निहित, ऋषि, मुनि, सिद्ध, नाग, विद्याधर, देवता को छोड़कर किसी अन्य वस्तु को नहीं देखता है। तो जैसे जल से तरंगें प्रकट होती है, वैसे ही उस परमात्मा के संकल्प से कला रूप प्रकृति के रूप में वह 'सद्गुरु' या 'देवता' का प्रत्यक्ष रूप जिसका वह ध्यान करता है, धीरे-धीरे वह सत्ता चेतन पुरुष के रूप में देहाकार वृत्ति से, प्रकृति के सात्विक अंश स्वरूप अन्तःकरण में प्रकट होकर दिखाई पड़ने लगती है। तथा उसी के साथ ही साथ वह प्रकृति के रूप में बुद्धि के भीतर जिस प्रकार जल से बुद बुद उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार त्रिगुणात्मिका माया या योग माया के संकल्प से, प्रकृति के सात्विक अंश स्वरूप, कालाकार वृत्ति से, प्रकृति पुरुष के रूप में 'निश्चयात्मक बुद्धि' या 'श्रुति' का रूप प्रकट होकर दिखाई पड़ने लगती है।

चेतन पुरुष के रूप में प्रकृति के सात्विक अंश 'सद्गुरु' या 'ईश्वर' के, और उसके प्रकृति के रूप में 'निश्चयात्मक बुद्धि' या 'श्रुति' के प्रकट हो जाने से कुछ दिनों बाद, उसके सम्पर्क से पूर्वजन्मों के संस्कार वश, स्मृत स्वरूप प्रकृति के शुद्ध सत्व अंश के रूप में 'विद्या गुण' भाव के रूप में रहने वाला 'भाव प्रकाश' ज्ञान जाग्रत हो जाता है तथा उसी प्रकार 'अविद्या गुण' के रूप में स्मृति स्वरूप प्रकृति के शुद्ध सत्व अंश के रूप में रहने वाला 'शब्द प्रकाश' ज्ञान प्रकाशित हो जाता है।

प्रकृति का शुद्ध सत्व अंश ही 'विद्यागुण' है। उस विद्या से अविद्या गुण उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार जल से बुदबुदे उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार बुदबुदे जल में लीन हो जाते है, उसी प्रकार उस विद्या गुण में ही अविद्या गुण विलीन हो जाता है। जैसे जल और तरंग की भिन्न भावना से ही भिन्नता है वैसे ही 'विद्या गुण' और 'अविद्या गुण' में दृष्टियों की भेद भावना से भिन्नता है, वस्तुतः नहीं। जिस प्रकार परमार्थतः जल और तरंग की एकरूपता ही है, उसी प्रकार 'विद्यागुण' और 'अविद्यागुण' एक रूप ही है, पृथक नहीं। वास्तव में एक परमात्मा से भिन्न 'विद्यागुण, और 'अविद्यागुण' नाम की कोई वस्तु नहीं है। विद्या जैसे शब्द से ही स्पष्ट है कि यह उच्चतम अवस्था का ज्ञान है। इस गुण द्वारा ईश्वर की समझना अनिवार्यतः संभव है और साथ ही मानव के समझने की सीमित शक्तियों से परे है। यह गुण

इन्द्रियों के अनुभव पर निर्भर नहीं करती। अन्तःप्रेरणाओं के कारण पूर्वजन्मों के संस्कार जन सहज स्वभाव या प्रवृत्ति बुद्धि पर आधारित होती है। यह अवस्था विवेक से परे है। अन्तरदृष्टि वाला सम्पूर्ण ज्ञान है। जिसके द्वारा हम अपनी तमाम शक्तियों का उपयोग करके ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं। प्रश्न केवल विचारों का नहीं है। यह तो ज्ञान का परिवर्तन करने की, व्यक्तित्व को पुनर्गठित करने की, ऊर्जा तत्व के नवीनीकरण की प्रक्रिया है। यह एक दृष्टि है, सचेतनता है, असीम स्वतंत्रता में मुक्ति है। आनन्दित होना ही है। जिस व्यक्ति को मालूम होता है वह सत्य में सन्देह नहीं करता, जिस प्रकार तेज धूप में खड़ा हुआ व्यक्ति सूर्य की उपस्थिति में सन्देह नहीं करता। इस जानने को ही 'विद्यागुण' कहा गया है।

अन्तः प्रेरणाओं के कारण पूर्वजन्मों के स्मृति स्वरूप, विद्यागुण के भाव होने पर उत्पन्न होने वाली, आधिदैविक एवम् आधिभौतिक सत्ता के साथ होने से गतिमान ब्रह्ममान गुणों से युक्त, अध्यात्म विद्या का यह 'भावप्रकाश' ज्ञान, और 'शब्दप्रकाश' तत्व ज्ञान मानव को सब कुछ प्रदान करने वाला है। जिसके जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है। इसी द्वारा अन्तः प्रकृति में संरूप बनते हैं। उसी से उसमें शब्द, उत्तेजना, स्फूर्ति तथा क्रिया शक्ति का उदय होता है। मन को प्रकाश की, शरीर की क्रियाओं की तथा शब्द की अनुभूति प्राप्त होती है। और उसी से अन्तः प्रकृति में तथा उसी के भीतर स्थित बाह्य प्रकृति में चेतना व आत्मा शक्ति का अभ्युदय होता है। जो आगे चलकर दैवी शक्ति का कारण बन जाती है, जिसके द्वारा ऊपर लिखे सारे विचारणीय प्रश्नों का समाधान प्राप्त किया जा सकता है और अपने जीवन को सफल बनाया जा सकता है।

भारतीय दार्शनिकों ने माना है कि सृष्टि के आदि में एक मात्र आकाश रहता है। फिर कल्प के अन्त में समस्त ठोस, तरल और वाष्पीय पदार्थ पुनः आकाश में लय हो जाते हैं। बाद को सृष्टि फिर से इसी तरह आकाश से उत्पन्न होती है। साथ ही साथ ऋग्वेद संहिता, दशम मण्डल में आया है कि—

"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्"

जब अस्ति और नास्ति कुछ भी न था, जब तम से आवृत था, तब था क्या?

"तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्"

यह आकाश ही गति शून्य होकर अवस्थित था। अतः यह ठीक कहा जा सकता है कि उसके भीतर प्राण किसी प्रकार प्रकट रूप में न था, परन्तु तब भी प्राण का अस्तित्व था। जिस शक्ति से आकाश जगत के रूप में परिणत होता है? वह प्राण की शक्ति है। जिस प्रकार आकाश इस जगत का कारण स्वरूप, अनन्त सर्वव्यापी मूल पदार्थ है, प्राण

भी उसी तरह जगत् की उत्पत्ति की कारण स्वरूपा, अनन्त सर्वव्यापी विक्षेप-कारी शक्ति है। कल्प के आदि में अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि आकाश रूप में परिणत होती है, और जगत की सारी शक्तियां प्राण में लीन हो जाती है। दूसरे कल्प में फिर इसी प्राण से समुदय शक्ति का विकास होता है। यह प्राण ही गति रूप में प्रकाशित हुआ है—यही गुरुत्वाकर्षण या चुम्बक शक्ति के रूप में प्रकाशित हो रहा है। यह प्राण समस्त प्राणियों के भीतर जीवनी शक्ति के रूप में विद्यमान है। जिन्होंने प्राण को जीता है, उन्होंने अपने मन को नहीं, वरन सब के मन को भी जीत लिया है। अन्तर जगत के सम्बन्ध में ठीक यही बात है संसार की समस्त वस्तुयें 'ईश्वर' (आकाश तत्व) से उत्पन्न हुई है, अतः हम प्राण के द्वारा सारी वस्तुओं के प्रतिनिधि के रूप में इसे ग्रहण कर सकते हैं। जो अपने मन में यह अति सूक्ष्म 'ईश्वर' (आकाश तत्व) से युक्त कम्पन उत्पन्न कर सकते है, वे देखते हैं कि सारा जगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म कम्पनों की समष्टि मात्र है। किसी-किसी औषधि और मंत्र में इस सूक्ष्म अवस्था में पहुँचा देने की शक्ति रहती है, यद्यपि उस समय हम इन्द्रिय-राज्य के भीतर ही रहते हैं। यह 'सारा जगत भाव राशि की समष्टि मात्र है।'

पूर्वजन्मों के संस्कार वश वनस्पतियों या मंत्रों द्वारा स्मृत स्वरूप भाव राशि के रूप में प्राप्त यही सूक्ष्मातिसूक्ष्म कम्पनों की समष्टि प्राण यही स्नायुविक शक्ति प्रवाह (Nerve Current) है। जो गुरुत्वाकर्षण या चुम्बक शक्ति के रूप में 'ईश्वर' या (आकाश तत्व) के रूप में प्रकाशित हुआ है। यह समुदाय दैहिक क्रिया के रूप में प्रकाशित 'भाव प्रकाश' एवं 'शब्द प्रकाश' जैसी शक्ति जिसका हम यहां आध्यात्मिक शब्दों के रूप में वर्णन कर रहे है। सब कुछ इसी प्राण का ही विकास है।

पिछले लेखों में प्रयोगों माध्यम से राजयोग प्रणाली द्वारा क्रियात्मक रूप से दर्शायी गयी हमारे राजयोग की सारी वैज्ञानिक क्रिया इसी प्राण शक्ति पर निश्चित और सूक्ष्माति-सूक्ष्म आकाशीय कम्पन पर आधारित है। प्राण की यह प्रकाशित शक्ति मृत प्राणियों के भीतर देखी जा सकती है। प्राणायाम क्रिया करने वाले साधक इसे देख सकते है। या ऊपर लिखी प्रदर्शन जैसी वैज्ञानिक क्रिया से, युक्त हमारी राजयोग प्रणाली द्वारा देखी जा सकती है।

इसी प्रणाली द्वारा समाधि में आने ध्यान का अभ्यास करता हुआ जब साधक आकाशीय कम्पन से प्राप्त 'शब्द' को सुनने लगता है, जिसका कि उसे पहले ही 'भाव प्रकाश' एवं 'शब्द प्रकाश' रूप से अलग-अलग कारण पुरुष-कार्य पुरुष के रूप में ज्ञान है— इसे सुनकर उसके स्नायु या मस्तिष्क में इसे ज्ञात करने की गति उत्पन्न हो जाती है।

उसी मानसिक गति की प्रतिक्रिया स्वरूप उस की बुद्धि में फल जानने की प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। उसी प्रतिक्रिया स्वरूप जब वह अपने मन को दृढ़ व संयत बनाकर अपने साधना के सतत् अभ्यास द्वारा सूक्ष्मतर अनुभव शक्ति के रूप में स्नायविक शक्ति प्रवाह ज्ञान को प्राप्त कर लेता है और उसी सूक्ष्म अनुभव शक्ति द्वारा जब वह पहले स्थूल वस्तु को लेकर समाधि अवस्था में ध्यान करता है, तो स्थूल वस्तु स्वरूप 'शब्द' का ज्ञान कर लेता है। फिर सूक्ष्म वस्तु को लेकर समाधि में सूक्ष्म वस्तु का ध्यान करता है, तो सूक्ष्म स्वरूप उस के 'अर्थ' का ज्ञान कर लेता है। फिर क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर ध्यान में जब 'ज्ञान' को समझ लेता है, तब उसके द्वारा अन्त में चल कर उसे विषय-शून्य अवस्था निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

विशिष्ट साधक महान योगी विवेकानन्द के निर्देशों के अनुसार प्राण के रूप में रहने वाला सूक्ष्मातिसूक्ष्म आकाशीय कम्पन या शक्ति प्रवाह ज्ञान हो--शून्य नली के भीतर मेरुदण्ड मध्यस्थ रहने वाली सुषुम्ना नली है। उसी प्रकार मेरुदण्ड-मध्यस्थ ज्ञानात्मक 'भाव प्रकाश' एवं 'क्रियात्मक' 'शब्द प्रकाश' ही स्नायुपुञ्ज स्तम्भ के रूप में योगियों की 'इड़ा' और पिंगला' नाड़ियां हैं। प्रधानतः इन दोनों नाड़ियों के भीतर से ही पूर्वोक्त अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी शक्ति प्रवाहद्वय आना जाना कर रहे हैं। जब योगी महत् जैसा भाव समाधि में साधारणतः परिदृश्य मान आकाश को देखते हैं उसका नाम है महाकाश-योगी जब भाव समाधि के ज्ञानातीत ज्ञान समाधि में दूसरों का मनोभाव समझने लगते हैं या अलौकिक वस्तुयें देखने लगते हैं, तब वे दर्शन चित्ताकाश में होते हैं और जब असम्प्रज्ञात समाधि में अनुभूति विषय शून्य हो जाती है आत्मा अपने स्वरूप में प्रकाशित होती है, तब उसका नाम है चिदाकाश। जब कुण्डलिनी शक्ति जागकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है, तब जो सब विषय अनुभूत होते हैं वे चित्ताकाश में होते हैं। जब वह उस नाड़ी की अन्तिम सीमा मस्तक में पहुँचती है, तब चिदाकाश में एक विषय शून्य ज्ञान अनुभूत होता है। यह विषय शून्य ज्ञान ही आगे चलकर एक दिन ब्रह्माण्ड सत्ता में रहने वाले महाशक्ति 'शिव' के स्वरूप का ज्ञान कराने वाला है।

अनुभव के आधार पर ज्ञात होता है कि हमारे भारत वर्ष में उत्पन्न होने वाले—कबीर तुलसी, सूर, दादू, नानक, रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द हमारे आराध्यदेव दादागुरु-प्रभु रामलाल जी महाराज व उनके गुरु नेपाल वाले सदा शिव, तथा सिरहटी वाले पुराने बलुआई बाबा आदि जितने ब्रह्मलीन समाज सेवी सुधारक योगी या संत हुये हैं वे ज्ञान-विज्ञान या विद्या अविद्या को जोड़कर उत्पन्न

की गयी, हमारे उसी आध्यात्म विद्या से युक्त राजयोग प्रणाली से परिचित थे। कबीर एवं तुलसी जैसे सन्तों ने हमारी इस प्रणाली की पुष्टि निम्न लिखित शब्दों से की है।—

जना चार मिलि लगन सुधाई,
जना पांच मिलि मंडप छाई।
संग न सूती स्वाद न जान्यो,
गयो बदन सुपने की नाई॥
—कबीरदास

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु,
राम बिनु कहै प्रकाश।
सगुण कहै निर्गुण बिना,
सो गुरु तुलसी दास॥
—तुलसी दास

अतः आप सभी साधकों से इस साधक का अनुरोध है—'शिव' या 'ब्रह्म' जैसे आध्यात्मिक तत्वों पर निर्भर, अध्यात्म विद्या से युक्त, हमारे इस राजयोग प्रणाली के अनुसार संसार में रहते हुए यौगिक साधना करें क्यों कि ?—

यह साधना प्रणाली-वर्ण, जाति, राष्ट्र, धर्म जैसे भेद बुद्धि से अलग रहने वाली है। यथार्थवाद पर निश्चित एक वैज्ञानिक क्रिया से युक्त साधन प्रणाली है या धर्म विज्ञान है। ऊपर लिखे प्रश्नों के अलावा अन्य जटिल से जटिल प्रश्नों का समाधान प्रदान करने वाली है। तथा विश्व बन्धुत्व एवं राष्ट्रीय भावना के आधार पर सम्पूर्ण मानव-जाति में प्रेम, सद्भाव, शान्ति, सेवा तथा एकता का बीज बोने वाली है। केवल इसे न जानने के कारण ही हम लोग वेद-वर्णित भावना पर आधारित अध्यात्म विद्या को भूल गये हैं, इसे जान कर भी का प्रयास करो? इसकी जड़े अब भी,—भारतीय जन मानस के भीतर विद्यमान है। केवल इसी अध्यात्म विद्या से युक्त राजयोग प्रणाली के क्रियात्मक रूप से व्यवहार में न आने के कारण ही हम शारीरिक स्तर पर, मानसिक स्तर पर, आध्यात्मिक स्तर पर, अपने चैतन्य का विकास नहीं कर पा रहे हैं। इसी चेतना के विकास न होने के कारण ही आज कल सारे संसार में ज्यादातर लोगों के भीतर विषाक्त शत्रु की तरह व्यक्तिवादी मनोवृत्ति उत्पन्न हो गयी है, जिसके कारण ही आजकल लोग गरीब असहाय शारीरिक कष्ट आदि से दुःखी, मानसिक कष्ट आदि से व्यथित लोगों को उपेक्षा की दृष्टि से देख रहे हैं तथा अपने असली धर्म और ध्येय को नहीं समझ पा रहे हैं कि वे भी समाज के अंग हैं उनकी सेवा ही ईश्वर की सेवा है। अतः इन सब को गले लगाओ, अपने-अपने व्यक्तित्व का विकास करो, और 'ब्रह्ममय' या 'शिवमय' होकर मुक्त हो जाओ? यही इस साधना का सब से बड़ा लक्ष्य है।

कुछ कवितायें

श्री भवानीप्रसाद मिश्र

बस आज

अगर हमने
आज का दिन
ठीक से जिया
तो देवताओं और
राक्षसों ने जितना
अमरत निकाला था
सबका सब
पी लिया
ऐसा समझो
कल नया लेकर आयेगा
यह क्यों
सोचेंगे हम
जो कभी किसी
विषम से डरे नहीं हैं
किसी भय की
आशंका से घरे नहीं हैं।

ना–ना–ना

बदला लेना
आदमी का नहीं
काल पुरुष का
काम है
तुम अपना
यानी आदमी का
काम करो
बावजूद गलतियों के
साथियों को
राहत पहुँचाओ
उनकी चोटें सेंको
दूसरे जब उन पर
पत्थर फेंक रहे हैं
तो तुम भी
किसी बात की याद करके
उन पर पत्थर मत फेंको।

आकर्षण निषिद्ध का

बेशक असली
मजा है
और तो भी मगर
मगर इसमें भी
शक नहीं
कि निषिद्ध का
अपना मजा है
और मजा है उसका
मजा के मुकाबिले में
मीठा और
प्यारा
मुझे निषिद्ध से
तुम घेर नहीं
सकते
प्रसिद्ध किसी
विधि के घेरे में
घेर नहीं सकते।

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

योग वाशिष्ठ से सङ्कलित

ॐ भ्रम के कारण ही तुम किसी ऐसी वस्तु को अस्तित्ववान् मान लेते हो, जिसका वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे तुम रस्सी में सर्प की कल्पना कर लेते हो। सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा इस प्रकार के भ्रम से रहित है।

× × × ×

● जब तुम यह वास्तविक रूप में समझ जाते हो कि तुम्हारा वास्तविक स्वरूप आत्मा निर्गुण और निर्लिप्त है, तब तुम अपने जड़ और अनित्य शरीर से उसे अभिन्न मानना छोड़ दोगे। इसलिए आत्मा के सच्चे स्वरूप की खोज करो।

× × × ×

ॐ जब व्यक्ति गुरु के या ग्रन्थों के उपदेशों के द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व की अनुभूति करता है, तो तत्क्षण अज्ञान का स्रोत, कारण और कार्य के साथ, परमात्मा में विलीन हो जाता है। इस स्थिति को मोक्ष कहते हैं। आत्मा फिर मुक्त होती है।

× × × ×

ॐ क्रोध से अभिभूत होकर व्यक्ति अपनी माता, पिता, भाई, मित्र और सम्बन्धी तक की हत्या कर देता है। उसके लिए ऐसे अवसर भी प्रायः आयेंगे, जब वह क्रोध की प्रेरणा से किये गये कार्यों के लिए पश्चात्ताप करेगा क्रोध ही उसे संसार में आबद्ध करता है। क्रोध ही व्यक्ति के समस्त सद्गुणों का नाश करता है। इसलिए क्रोध का त्याग करो। वस्तुतः क्रोध ही महान् शत्रु यम है तथा क्रोध वह वैतरणी है, जिसे पार करना अत्यन्त दुष्कर है। सन्तोष नन्दनवन है तथा शान्ति कामधेनु है। इस पर विचार करो और शान्ति के लिए श्रम करो।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

बचाव

यह जो सामने से
आ रही है
सो स्वतन्त्रता है
रास्ता छोड़ दो
उसे उसके बेलगाम मन की
लगाम दो
और फिर बाग
दूसरी तरफ मोड़ दो
उस तरफ जो स्वार्थ की नहीं
हित की हो
अमृत की नहीं
मृत की हो !

❀ हे महात्मन् ! काम एक बड़े वृक्ष के समान है। यह वासना की बेलि से लिपटा हुआ है। इसकी अगणित शाखाएँ हैं। जो मन उसके ऊपर मँडराता है, वह कभी इच्छित फल नहीं पा सकता।

× × × ×

❀ मन की वासनाएँ सदैव तरंगों के समान चंचल रहती हैं। इस चंचलता से मुक्त होने में विफल हो जाने से वह क्षण मात्र के लिए भी शान्त नहीं होकर वह विभिन्न दिशाओं में दौड़ता रहता है।

× × × ×

❀ ऐसा कोई व्यक्ति अब तक नहीं जन्मा, जो उस वृद्धावस्था को जीत सका हो जिसके कारण उसकी कोई कामना पूरी नहीं हो पाती। जैसे सूर्यास्त के पीछे-पीछे अन्धकार चलता है, वैसे ही वृद्धावस्था के पीछे-पीछे मृत्यु चला करती है।

× × × ×

❀ अपनी जड़ता के बावजूद शरीर चेतनावान् सा दिखायी देता है, क्योंकि इसमें आत्मा अपने पंचकोषों के साथ निवास करती है।

× × × ×

❀ वह व्यक्ति 'प्रशान्त' की संज्ञा के योग्य होता है, जो विलक्षण घटनाओं से परिपूर्ण यौवन के अरण्य को सुरक्षित रूप से पार कर लेता है।

× × × ×

❀ यौवन की स्पृहाओं को त्यागने की अपेक्षा एक प्रखर वेगवती सरिता को पार करना अधिक सुगम है। यौवन उस व्यक्ति के पतन का कारण है, जो विवेक से हीन होता है।

× × × ×

❀ जिस प्रकार एक रत्न बुद्धिविहीन व्यक्ति की पकड़ से छूट जाता है, वैसे ही यौवन का पक्षी शरीर से अविलम्ब उड़ जाता है।

× × × ×

❀ यौवन उन लोगों के दुःख का कारण है, जिन्होंने विवेक की शक्ति को विकसित नहीं किया है और जिनका हृदय इन्द्रियों के विषय-व्याल के सम्पर्क में आने के कारण उत्पीड़ित हो गया है।

× × × ×

❀ संसार क्षणभंगुर है तथा इसमें आनंद का एक भी कण नहीं है। मैं न तो मृत्यु की कामना करता हूँ और न मुझे जीवन का ही लोभ है, मैं राज्य, धन, सुख और आकांक्षाओं के लिए व्यग्र नहीं हूँ, क्योंकि मैंने इन सभी की जड़ अहङ्कार का परित्याग कर दिया है।

योग-उपदेश

श्री नारायणदत्त रावल

(१) एकाग्रता—दुःख और दीनता के कारण चित्त स्थिर नहीं रह पाता। चित्त को सदैव प्रसन्न रखिये तो एकाग्रता अपने-आप सध जावेगी।

(२) आत्म-हनन का पाप—चित्त को क्षुब्ध रखना, दुःखी रखना, आत्म-हनन के तुल्य पाप है। निरन्तर दुःख से खिन्न-चित्त मनुष्य एक दिन राक्षसी वृत्ति वाला बन जाता है।

(३) समाज का शत्रु—खिन्न-चित्त मनुष्य अपना तो शत्रु होता ही है, वह समाज का भी भारी शत्रु है और भगवान् का तो वह प्रिय हो ही नहीं सकता।

(४) दुःख खेल बनेंगे—यदि आप हमेशा प्रसन्न रहना सीख लेंगे तो दुःख आप के लिये खेल बनेंगे और आप दुःख प्रूफ बन जावेंगे।

(५) खेल का मैदान—संसार को एक तरह से खेल का मैदान ही समझिये, जहाँ एक दिन विजय का सेहरा सिर पर बँधता है, तो दूसरे दिन डाक्टर की पट्टी।

(६) प्रतिद्वन्द्वी की विजय—जब हम अपनी विजय में प्रसन्न होते हैं, तो प्रतिद्वन्द्वी की विजय में क्यों रोते हैं? तब भी प्रसन्न ही रहना चाहिये।

(७) डरते नहीं—जो लोग दुःखों का हँसते-हँसते आवाहन करते हैं, वे क्या कभी किसी दुःख से डरते हैं? सुख में तो सभी प्रसन्न रहते हैं, परन्तु जो दुःख में भी प्रसन्न रह सके, दुनिया में उसीका नाम हमेशा आदर से लिया जाता है।

(८) योग-युक्त—दुःख सुख में सम रहने वाला व्यक्ति ही योग-युक्त कहलाता है। योग-युक्त बनने के लिये चित्त की प्रसन्नता प्रथम साधन है। सत्य के तेज से भयभीत व्यक्ति न स्वतः प्रसन्न रहता है और न किसी को प्रसन्न रख सकता।

(९) स्वेच्छया कष्ट सहन—मन को संकल्प-विकल्प रहित रखकर एकाग्रता प्राप्त करना तो ऊँची बात है, पहले सत्संग में, कीर्तन-भजन में, शुभ कार्यों में और स्वेच्छया कष्ट-सहन में आनन्द मनाना तो सीखिये।

(१०) सच्चा आत्मानन्द—यदि सच्चे आत्मानन्द का विकास करना चाहते हो तो सात्त्विक आमोद-प्रमोद देने वाले विषयों में चित्त लगाकर खुशी मनाने का अभ्यास डालो।

(११) स्मृति की शक्ति—मनुष्य बहुधा उतना दुःखी किसी दुर्घटना से नहीं होता जितना अपनी स्मृति से होता है। स्मृति की शक्ति सीमित है। वह अनन्त बातें याद नहीं रख सकती। कुछ नई बातें याद रहती हैं तो पुरानी भुला दी जाती हैं। अतएव अच्छी बातें याद करके गन्दे विचारों को दबा देना चाहिये। इस से प्रसन्नता में वृद्धि होती है।

सराहनीय पुरुषार्थ ! अभिनव प्रकाशन !!

श्री योग महा दिव्य रामायण

'सिद्धयोग' के पाठकों को मुझे यह सूचित करते हुए परम प्रसन्नता हो रही है कि प्रिय श्री चमनलाल कपूर ने, जो हमारे आश्रम के अभिन्न अङ्ग हैं हाल ही में 'श्री योगमहा दिव्य रामायण' नामक एक काव्यमय ग्रन्थ तय्यार किया है। यह ग्रन्थ कई खण्डों में है और प्रत्येक खण्ड सजिल्द रूप में प्रकाशित किया गया है। इस ग्रन्थ में आनन्दकन्द प्रभुजी की विविध चरित्र-गाथाओं को दोहा-चौपाई जैसे सरल और बोधगम्य छन्दों में वर्णित किया गया है। साथ ही अन्य भक्तों के चरित्रों का भी संकलन इसमें यथास्थान किया गया है। छपाई-सफाई भी सुन्दर और सुपाठ्य है। इस ग्रंथ का प्रकाशन योग-साधन आश्रम, माडल टाउन होशियारपुर (पंजाब) से हुआ है, तथा वहीं से श्री चमनलाल कपूर से सम्पर्क करने पर प्राप्त हो सकता है। यह प्रकाशन संग्रहणीय एवं पठनीय है। हम इस पठनीय अभिनव प्रकाशन के लिए प्रिय श्री चमनलाल कपूर के प्रयास की भूरि-भूरि सराहना करते हैं।

—चन्द्रमोहन (योगिराज)

श्री सिद्धगुफा-योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई एत्मादपुर आगरा।

❀ निवेदन ❀

'सिद्धयोग' का प्रस्तुत अङ्क संख्या ३ व ४ (जून-जुलाई ८६ का) संयुक्त अङ्क के रूप में प्रकाशित किया गया है इसीलिए इसकी पृष्ठ संख्या में भी वृद्धि कर दी गई है। यह व्यवस्था इसलिए की गई है ताकि आगामी अंक पुनः पूर्ववत् समय पर प्रकाशित हो सकें। आशा है इस अनिवार्यता के लिए दयालु पाठक हमें क्षमा करेंगे।

—व्यवस्थापक

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सभाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

—※※※—

श्री ....

....

....

....

क्रिया-योग

तपस्या स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान—यह क्रियायोग है। अतपस्वी क्रियायोग सिद्ध नहीं होता। अनादि कालीन कर्म और क्लेश की वासना के द्वारा विचित्र (अर्थात् सहज भावापन्न) तथा विषय जाल युक्त जो अशुद्धि (यो योग अन्तराय चित्तमल) है वह तपस्या के बिना छिन्न नहीं होता है इसलिए क्रियायोग में तप का उल्लेख किया गया है। चित्त प्रसादकर विघ्न रहित तपस्या ही योगियों द्वारा सेव्य है। प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप अथवा शास्त्रों का अध्ययन ही स्वाध्याय है। ईश्वर को समस्त कर्मों का अर्पण अथवा कर्म फल आकांक्षा का त्याग ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। चित्त स्थैर्य के उद्देश्य से जो क्रियायें की जाती हैं वे ही क्रियायोग की सीमा में आती है।

—हरिहरानन्द

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बघई मसां, नाकगंज, आगरा-१ फोन ६२१६८